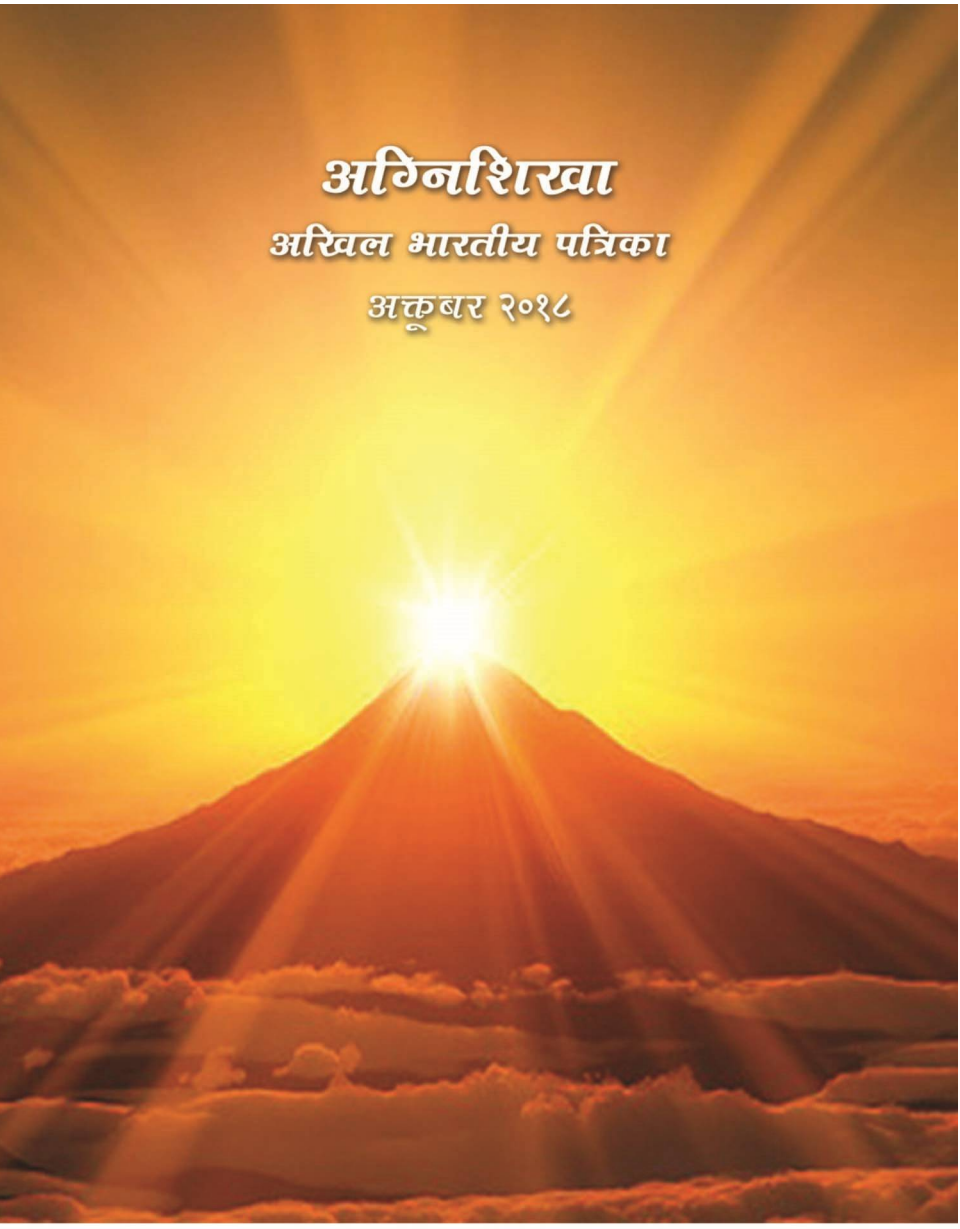

ज्योतिर्मय पथ

विषय-सूची

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
भगवान् के साथ नाता जोड़ना योग है	५
दीप्तियों की माँ का वन्दन	६
अगर धरती पुकारे...	९
अतिमानवता का पहला चरण	११
हमारे योग का उद्देश्य	१४
योग में धैर्यपूर्वक लगे रहो	१६
ज्योतिर्मय पथ का निर्माण	१८
मनुष्य	२१
अतिमानस का अवतरण निश्चित	२४
नीलम की कहानी	२५

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		३१
हमारी वसुधा ही नन्दनकानन बन जाये	नारायण प्रसाद 'बिन्दु'	३५
एक साधिका के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६ से	४०
सचेतन बनने की विभिन्न विधियाँ	नवजात जी	४२
सच्चा सुख : मन की शान्ति में	नरेन्द्र विद्यावाचस्पति	४६
जीवेम शरदः शतम् (कविता)	श्री अटलबिहारी वाजपेयी	४७
आशा (कविता)	अज्ञात	४८
'नयी कोंपलें' : बस या बस 'ड्राइवर' का इन्तज़ार...	शक्ति शर्मा	४९
सैकड़ों बनफ़शा एक साथ महक उठे...	वन्दना	५०
झुंझुनू की सूचना		५८

सन्देश

सदा आकाश की ओर इंगित करते मीनार की तरह तुम्हारी अभीप्सा ऊपर उठे अथक, अकम्प रूप में। यह तुम्हारी सत्ता की सब विषमताओं पर, सभी बाधा-विघ्नों और कठिनाइयों पर विजय पा लेगी।

... गभीर प्रेम की शान्ति को अपनी सारी सत्ता में गहरे पैठ जाने दो और एक मूक हर्ष और ओज से स्वयं को आप्लावित होने दो।

—श्रीमाँ

सम्पादकीय :

"धरती के क्रमविकास में मानव से अतिमानव की ओर क़दम ही आने वाली उपलब्धि है। यही हमारी नियति है और हमारी अभीप्सा करने वाली परन्तु मुश्किल में पड़ी सीमित सत्ता को मुक्त करने वाली चाबी है। यह अनिवार्य है, क्योंकि यह एक ही साथ आन्तरिक आत्मा का अभिप्राय और प्रकृति की प्रक्रिया की तर्कसंगति है।

"भौतिक और पाशविक जगत् में मानव सम्भावना का आविर्भाव आने वाले दिव्य प्रकाश की पहली झलक, भौतिक तत्त्व में से जन्म लेने वाले देव की प्रथम दूरागत सूचना थी। मानव जगत् में अतिमानव का आविर्भाव उस दूरस्थ प्रकाशमयी प्रतिज्ञा की परिपूर्णता होगी।"

ये हैं श्रीअरविन्द के वे वचन जो हमें ज्योतिर्मय पथ की ओर लिये चलते हैं। वस्तुतः श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन भावी पथ पर वे प्रकाश-स्तम्भ हैं जो अभीप्सु का मार्ग निरन्तर प्रकाशित करते रहते हैं।

इस अंक में कुछ ऐसे ही लेखों का समावेश किया गया है। कई लेख हिन्दी पुस्तक *'मानव से अतिमानव की ओर'* में से लिये गये हैं जिसमें श्रीअरविन्द के लेखों का संकलन है।

श्रीअरविन्द

जब एकमेव सत्ता की सदा अधिकाधिक उन्मीलन प्रक्रिया में इस शक्ति का कोई प्रतिनिधि हमारी सीमित मानव प्रकृति में उतरे, तब और केवल तभी मनुष्य अपना अतिक्रमण कर सकता है और दिव्य रूप से जान सकता, दिव्य रूप से क्रिया और रचना कर सकता है। अन्ततः वह शाश्वत का एक सचेतन भाग बन जायेगा। अतिमानव का जन्म होगा, किसी बढ़ी-चढ़ी मानसिक सत्ता का नहीं, बल्कि एक अतिमानसिक शक्ति का जो यहाँ रूपान्तरित पार्थिव शरीर के नये जीवन में उतरेगी। पार्थिव प्रकृति में उतरी हुई आत्मा के लिए अगली स्पष्ट, उल्लसित विजय होगी—विज्ञानमय अतिमानवता।...

मनुष्य अन्तर्वर्ती सत्ता है। वह अन्तिम नहीं है क्योंकि उसमें और उसके परे वे ज्योतिर्मय सोपान उठते हैं जो दिव्य अतिमानवता तक आरोहण करते हैं।

—श्रीअरविन्द

भगवान् के साथ नाता जोड़ना योग है

गहराई में और भी अधिक गहराई है, ऊँचाइयों में और भी अधिक ऊँचाई है। मनुष्य अपनी सत्ता की पूर्णता तक पहुँचने से पहले अनन्त की सीमाओं तक जा पहुँचेगा, क्योंकि वह सत्ता अनन्त की है, भगवान् की है।

मैं अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द के लिए अभीप्सा करता हूँ। क्या मैं उसे पा सकता हूँ? हाँ, परन्तु अनन्त का स्वभाव यह है कि उसका कोई अन्त नहीं इसलिए यह न कहो कि मैं उसे पाता हूँ। मैं वह हो जाता हूँ। मनुष्य इसी तरह भगवान् बन कर ही भगवान् को पा सकता है।

लेकिन भगवान् को पाने से पहले मनुष्य उनके साथ नाता जोड़ सकता है। भगवान् के साथ नाता जोड़ना ही योग है, यही परम हर्ष और सबसे उदात्त उपयोगिता है। हमने मानवता का जो घेरा विकसित किया है उसमें भी नाते हैं। इन्हें प्रार्थना, पूजा, आराधना, यज्ञ, विचार, श्रद्धा, विज्ञान, दर्शन कहा जाता है। इसके अतिरिक्त और भी नाते हैं जो हमारी विकसित क्षमता के तो परे हैं पर हमें जिस मानवता को विकसित करना है उसके घेरे में हैं। ये ऐसे सम्बन्ध हैं जो, साधारणतः हम जिसे योग कहते हैं उसके अभ्यास से प्राप्त होते हैं।

हम उन्हें भगवान् के नाम से न जानें। हम उन्हें प्रकृति, अपना उच्चतर स्व, अनन्त, अनिर्वचनीय लक्ष्य कह सकते हैं। बुद्ध उनके पास इसी तरह गये थे। कट्टर अद्वैतवादी उनके पास इसी तरह जाता है। वे नास्तिक की भी पहुँच में हैं। जड़ भौतिकवादी के लिए वे जड़ द्रव्य का छद्मवेश धारण करते हैं। शून्यवादी के लिए वे निर्वाण के कक्ष में घात लगाये प्रतीक्षा करते रहते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'मानव से अतिमानव की ओर', पृ. १६२ —श्रीअरविन्द

दीप्तियों की माँ का वन्दन

(१)

अँधेरी गुफाओं में आते हुए प्रकाश की न्याईं एक आन्तरिक पूर्णता आयी है। वह जीवन की बहुविध तन्त्रियों को भरती, प्रकाशित करती और स्पन्दित करती है। उसने भूतकाल की भूली-बिसरी उपलब्धियों के साथ सम्पर्क पा लिया है ताकि मैं वर्तमान की बदलती हुई रचनाओं के आधार पर भविष्य की नयी प्राप्तियों के साथ नये नाते जोड़ सकूँ। जीवन-लहरियाँ, उच्चतर स्वर्ग से कुत्सित और अन्धकारमय को ज्योतिर्मय और सत्य में बदलने के लिए, कुरूप और अनुचित को सुन्दर और उचित में बदलने के लिए नीचे उतरती हुई प्रकाश की किरणों से मिलने के लिए ऊपर उठ रही हैं।

हे दीप्तियों की माँ! तुम मेरे मन के संकीर्ण क्षितिज में उदित हुई हो। तुमने उसकी अथाह कठोरताओं में से, उसके घिरे हुए अन्तरालों के बीच हृदय के जैसी चीज़ बनायी है जो शाश्वत जीवन जियेगी। तुमने मन के पदार्थहीन ध्रुव क्षेत्रों के अन्दर एक जीवन्त और ऊष्माभरा कक्ष प्रकट किया है जिसमें मैं चैन से आराम कर सकता हूँ और तुम्हारे अन्दर शरण पा सकता हूँ।

गतिशील शक्तियों का निचला जाल बाक़ी है। लेकिन मैं उसके बीच भी तुम्हारी उपस्थिति का अनुभव करता हूँ। गतिशील शक्तियों का उच्चतर जाल बना हुआ है और यहाँ भी तुमने जीवन की ऐसी ऊष्मा बिखरते हुए पदार्पण किया है जो वहाँ पहले न थी। तुमने मन्द धूसर दीप्ति को जीवित-जाग्रत् जलों की प्रभा में बदल दिया है। तुम्हारी सक्रिय और जीवित-जाग्रत् उपस्थिति हर जगह है। तुमने मेरी अभीप्सा के शब्दों पर, अपनी सर्वव्यापकता के लिए मेरी माँग की आग पर ध्यान दिया है। मैंने अपने अज्ञान में जो कुछ माँगा था तुमने उससे ज़्यादा प्रकट किया है। जब मैं सत्य और विधान के साथ रहूँ तो तुम मेरे साथ एक और घनिष्ठ रहती हो, और जब मैं भ्रान्ति और मिथ्यात्व में होऊँ तो तुम मुझसे दूर और परे रहती हो।

जब मेरे चारों ओर अँधेरी छायाएँ न हों, जब तुम देखो कि मैं अपनी

सत्ता के हर भाग में पाखण्ड और दिखावे से ख़ाली हो गया हूँ, जब तुम मेरे शरीर के प्रत्येक कोषाणु को अपने लिए शाश्वत गृह या शाश्वत मन्दिर के रूप में देखो, जब तुम मुझे अपने साथ तादात्म्य होकर भी तुम्हारी पूजा करते देखो, जब तुम ज्ञान के ठोस सोने को भक्ति के बहते सजीव जलों में पिघला दो, जब तुम मेरी धरती को तोड़ करके ऊर्जाओं को मुक्त करो, जब तुम मेरे घमण्ड को अपने हाथ में शक्ति और मेरे अज्ञान को प्रकाश में, मेरी संकीर्णता को विशालता में, मेरी स्वार्थपरता की शक्तियों को एक केन्द्र पर सञ्चित करने में, मेरे लोभ को सत्य के पदार्थ को पाने के लिए अथक खोज की क्षमता में, मेरे अहंकार को सच्चे और सचेतन सहायक केन्द्र में, मेरे मन को तुम्हारे उतरने के लिए एक मार्ग में, मेरे हृदय को शुद्ध अग्नि और ज्वाला की तुम्हारी वेदी में, मेरे जीवन को तुम्हारे काम में आने वाले शुद्ध और पारभासी पदार्थ में, मेरे शरीर को तुम्हारा जो कुछ मेरे लिए हो उसे धारण करने वाले सचेतन पात्र में बदल दो तभी हे दीप्तियों की जननी, इह जीवन और भावी जीवन में मेरे जीवन की सच्चे, उचित और विस्तृत अर्थों में लक्ष्यपूर्ति होगी। मेरे अन्दर अभीप्सा जाग रही है! मैं जिन-जिन चीज़ों के लिए धधक रहा हूँ उन्हें मेरे अन्दर सम्पादित करो।

(२)

मेरे अन्दर चेतना की ऐसी अवस्था पैदा करो कि मैं तुमसे जो कुछ सुनूँ वह तुरन्त अन्तरतम ज्ञान में, अपने अन्तःप्रकाश, तादात्म्य की अभिव्यक्ति, आन्तरिक और बाह्य की युगपत् अभिज्ञता में बदल जाये। हे माँ! वर दे कि, मैं तुझसे जो कुछ इकट्ठा करूँ वह अन्तर की उन बृहत् गहराइयों का हो जो सर्वव्यापी है। मैं हर तरह से तुम्हारे साथ एक होऊँ ताकि परम आनन्द पा सकूँ, फिर भी तुमसे अलग रहूँ ताकि तुम्हारी ओर भक्ति प्रवाहित कर सकूँ। एक और फिर भी भिन्न—जैसे जीवन और उसकी गतिविधियाँ, जैसे गरमी और प्रकाश, जैसे शक्ति और उसकी अभिव्यक्ति, जैसे सच्चा ज्ञान और उसकी सम्पन्न करने वाली शक्ति। तुम मुझे जो कुछ प्रदान करो वह मेरे लिए एक निधि न होकर मानों मेरे अपने आत्मशोध की चीज़ हो।

मेरी चेतना में से विभाजन को पोंछ डालो ताकि मैं तुम्हें अपने ही

अंग के रूप में देख और सुन सकूँ। मेरे अन्दर की जीवन-शक्तियाँ तुम्हारे साथ तादात्म्य से आने वाले ज्ञान, तुम्हारे साथ तादात्म्य से उत्पन्न अन्तर्दर्शन और ऐसे श्रवण के लिए अभीप्सा करती हैं जो तादात्म्य से दिशा पाता है—ऐसा तादात्म्य जो स्वयं तुम हो।

वर दे कि मैं तेरे असीम और द्युतिमान् देश में तेरे एक भाग की अभिव्यक्ति बनूँ।

(३)

मेरी अभीप्सा की अग्नि को धधकाओ, मेरे अन्दर समर्पण को तुरन्त और हर प्रकार से सम्भव बनाओ, मेरे उद्घाटन और मेरी ग्रहणशीलता को विस्तृत बनाओ, उन आवरणों को हटा दो जो मेरे अन्तस्तल की गहराइयों में चैत्य की क्रियाओं में विलम्ब करते हैं। हे माँ, मेरे पास जो कुछ है और मेरे पास जो नहीं है उसे मुझसे ले लो...

हे दीप्तियों की माँ! मेरे शरीर के कोषाणु, मेरे स्नायविक आवरण के तन्तु, मेरे प्राण की पाँचों धाराएँ, मेरे हृदय की अग्नियाँ, मेरे मन की शक्तियाँ —तुम्हारे प्रति बिना शर्त समर्पण करते हैं, ताकि जीवन में मिथ्यात्व का, चेतना में विभाजन, जीवित जलों में मृत्यु, स्नायविक कुण्डली में सामञ्जस्य का अभाव और दुःख-दैन्य तथा शरीर में रोग न रहें...

तेरी वाणी मुझे उत्तर देती है:

भौतिक में समर्पण की पाँचगुनी शक्तियों द्वारा, तुम्हारे केन्द्र के पीछे जो चैत्य प्रेरणा है उसकी निश्चल तीव्रता द्वारा, हमेशा, हमेशा अपने अन्दर निहित आनन्द और अपनी चेतना में छिपी समृद्धियों को बढ़ाओ। सबसे पहले उसके बारे में सचेतन होओ जो मैंने तुम्हारे अन्दर चाहा है और फिर वह बनो जिसके बारे में तुम सचेतन हुए हो। तुरन्त, सदा के लिए यह जान लो कि तुम्हारा सर्वस्व मेरे अन्दर है।

—'मानव से अतिमानव की ओर', पृ. २०४-०६

हमें मानव की मानवता का अतिक्रमण करके भागवत बनना है।

—श्रीअरविन्द

अगर धरती पुकारे...

... अपने-आपमें मनुष्य एक महत्त्वाकांक्षी न-कुछ से बढ़ कर नहीं है। वह एक संकीर्णता है जो पकड़ में न आने वाले विस्तार की ओर बढ़ती है, एक लघुता है जो अपने से परे की महानताओं की ओर बढ़ने के लिए भरसक कोशिश में लगी है, एक बौना है जो ऊँचाइयों पर मोहित है। उसका मन वैश्व मन के वैभवों में एक अँधेरी किरण है। उसका प्राण वैश्व प्राण की एक प्रयत्नशील, उल्लसित और पीड़ित लहर, एक उत्सुक, आवेगों में भटकता, दुःख का मारा या अन्धा, मन्दगति से परिश्रम करता हुआ तुच्छ क्षण है। उसका शरीर भौतिक विश्व में परिश्रम करता हुआ मर्त्य कण है। एक अमर अन्तरात्मा उसके अन्दर कहीं पर छिपी हुई है और समय-समय पर अपनी उपस्थिति की कुछ चिनगारियाँ छोड़ती रहती है। एक शाश्वत आत्मा उसके ऊपर है और अपने पंखों से उस पर छायी रहती है और इस अन्तरात्मिक सातत्य को उसकी प्रकृति में अपनी शक्ति के द्वारा बनाये रखती है। लेकिन उसके निर्मित व्यक्तित्व का कठोर ढक्कन उस महत्तर आत्मा के अवतरण में बाधा देता है और उसकी आन्तरिक ज्योतिर्मयी अन्तरात्मा घने बाहरी आवरणों में लिपटी, कुचली हुई और अत्याचार-पीड़ित रहती है। कुछ को छोड़ कर प्रायः सभी में वह कभी-कदास ही सक्रिय होती है, बहुतों में तो मुश्किल से दिखायी देती है। ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य में अन्तरात्मा और आत्मा उसकी दृश्य वास्तविकता का भाग न होकर उसकी निर्मित प्रकृति के ऊपर और पीछे विद्यमान हैं। वे उसकी आन्तरिक सत्ता में अन्तर्लीन या पहुँच के बाहर की किसी अवस्था में अतिचेतन हैं। उसकी बाहरी चेतना में वे उपलब्ध और विद्यमान वस्तुएँ न होकर सम्भावनाएँ हैं। आत्मा जड़-भौतिक में जन्मी नहीं, जन्म लेने की प्रक्रिया में है।

यह अपूर्ण सत्ता अपनी उलझी हुई, अस्तव्यस्त, अव्यवस्थित और अधिकतर प्रभावशून्य चेतना के साथ ऊपर की ओर उठने वाले प्रकृति के रहस्यमय उभार का लक्ष्य या उसकी उच्चतम ऊँचाई नहीं हो सकती। कोई और चीज़ है जिसे अभी ऊपर से नीचे लाना है। अभी हम उसे अपनी सीमाओं की दानवाकार दीवार की दरारों में से खण्डित झलकों के रूप में देख पाते हैं। या अभी कोई और चीज़ नीचे से विकसित होनी बाक़ी है

जो मनुष्य की मानसिक चेतना के परदे के पीछे सो रही है। या क्षणिक दीप्तियों में थोड़ी-बहुत दीख जाती है; जैसे एक बार प्राण पत्थर और धातु के अन्दर तथा मन वनस्पति में और तर्कबुद्धि पाशविक स्मृति की गुफा में भावनाओं, इन्द्रियों और सहज वृत्ति के अपूर्ण यन्त्र के नीचे सोये हुए थे। अभी तक हमारे अन्दर कोई अनभिव्यक्त चीज़ है जिसे ऊपर से घेर लेने वाले प्रकाश द्वारा मुक्त करवाना है। हमारी गहराइयों में एक देव बन्दी है जो अपनी सत्ता में उस महत्तर देव के साथ एक ही है जो अतिमानसिक शिखरों से उतरने के लिए तैयार है। उस अवरोहण और जाग्रत् मिलन में हमारे भविष्य का रहस्य छिपा हुआ है।

मनुष्य की महानता इसमें नहीं है कि वह क्या है, बल्कि इसमें है कि वह किसे सम्भव बनाता है। उसकी महिमा यह है कि वह एक जीवित-जाग्रत् परिश्रम का बन्द स्थान और गुप्त कारख़ाना है जिसमें दिव्य कारीगर अतिमानवता को तैयार कर रहा है।

लेकिन उसे एक और भी महान् महानता में प्रवेश प्राप्त है। निम्नतर सृष्टि से भिन्न उसे आंशिक रूप से भागवत परिवर्तन का सचेतन शिल्पी होने दिया गया है। उसकी मुक्त स्वीकृति, उसकी समर्पित इच्छा और उसके सहयोग की ज़रूरत है ताकि उसके शरीर में वह महिमा उतर सके जो उसका स्थान लेगी। उसकी अभीप्सा अतिमानसिक स्रष्टा को धरती की पुकार है।

अगर धरती पुकारे और परम पुरुष उत्तर दें तो उस विशाल और महिमामय रूपान्तर का मुहूर्त अब भी हो सकता है।

—'मानव से अतिमानव की ओर', पृ. १५०-५१

अतिमानव अपने स्वाभाविक चरम बिन्दु तक पहुँचा हुआ मनुष्य नहीं है। वह मानव महानता, ज्ञान, शक्ति, बुद्धि, इच्छा, चरित्र, प्रतिभा, क्रियाशील शक्ति, साधुता, प्रेम, शुद्धि या पूर्णता की एक श्रेष्ठतर अवस्था नहीं है।

अतिमानव एक ऐसी चीज़ है जो मानसिक मनुष्य और उसकी सीमाओं से परे है, मानव प्रकृति के लिए समीचीन उच्चतम चेतना से बड़ी चेतना है।

—श्रीअरविन्द

अतिमानवता का पहला चरण

यह है तेरा कार्य और तेरी सत्ता का लक्ष्य जिसके लिए तू यहाँ है —भागवत अतिमानव और परम देव का पूर्ण पात्र बनना। इसके अतिरिक्त तुझे जो कुछ करना है वह केवल अपने-आपको तैयार करना या मार्ग का हर्ष या अपने प्रयोजन से पतन है। लेकिन उद्देश्य यही है, प्रयोजन यही है। मार्ग की शक्ति में, मार्ग के हर्ष में नहीं बल्कि लक्ष्य के हर्ष में ही तेरी सत्ता की महानता और उसका आनन्द है। मार्ग का हर्ष इसलिए है क्योंकि जो तुझे खींच रहा है वह स्वयं मार्ग पर तेरे साथ है और तुझे चढ़ने की शक्ति इसलिए दी गयी थी कि तू स्वयं अपने शिखरों पर चढ़ सके।

अगर तेरा कोई कर्तव्य है तो यह है तेरा कर्तव्य, अगर तू पूछे कि मेरा लक्ष्य क्या हो तो इसे होने दे अपना लक्ष्य, अगर तू सुख की माँग करता है तो इससे बढ़ कर कोई हर्ष नहीं है, क्योंकि और सभी हर्ष टूटे-फूटे और सीमित हैं, स्वप्नों के हर्ष, निद्रा के हर्ष या आत्म-विस्मृति के हर्ष हैं। परन्तु यह तेरी समस्त सत्ता का आनन्द है। अगर तू पूछे कि मेरी सत्ता क्या है, तो तेरी सत्ता यह है—भगवान्। और बाक़ी सब उसके टूटे-फूटे या विकृत रूप हैं। अगर तू सत्य की खोज में है तो यही है सत्य। इसे ठीक अपने सामने रख और सभी चीज़ों में उसके प्रति निष्ठावान् रह।

... किसी ने ठीक कहा कि मनुष्य का स्वभाव ही है, अपने-आपको अतिक्रान्त कर जाना। वस्तुतः यही उसका स्वभाव है और यही है उसके आत्मातीत होने का भागवत लक्ष्य।

तो वह स्व कौन-सा है जिसे तुझे पार करना है और वह कौन-सा स्व है जो तुझे बनना है, क्योंकि इस जगह तुझे कोई भूल नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यही भूल, अपने-आपको न जानना ही तेरे सारे दुःख का स्रोत है, तेरी लड़खड़ाहटों का कारण है।

तुझे जिसके परे जाना है, वह है ऐसा स्व जो तू प्रतीत होता है और वह है मनुष्य, जैसा तू उसे जानता है, यानी आभासी पुरुष। और यह मनुष्य क्या है? वह एक मानसिक सत्ता है जो प्राण और भौतिक का दास है और जहाँ वह प्राण और भौतिक का दास नहीं है वहाँ अपने मन का दास है। परन्तु यह बहुत बड़ी और भारी दासता है क्योंकि मन के दास होने का

अर्थ है, मिथ्या का, सीमित और आभासी का दास होना।

तुझे जो स्व बनना है वह वही स्व है जो तू मन, प्राण और भौतिक के परदे के पीछे है, इसका अर्थ है आध्यात्मिक होना, भगवान्, अतिमानव और वास्तविक पुरुष बनना क्योंकि जो मानसिक सत्ता के ऊपर है वह अतिमानव है, इसका अर्थ है अपने मन, अपने प्राण और अपने शरीर का स्वामी होना। इसका अर्थ है अभी तू जिस प्रकृति का यन्त्र है उसका राजा बनना, अभी जो तुझे अपने पैरों तले दबाये हुए है उसके ऊपर उठ जाना, इसका अर्थ है स्वाधीन होना, ग़ुलाम नहीं, एक होना, विभक्त नहीं, अमर होना, मृत्यु के अन्धकार में न रहना, प्रकाश से भरपूर होना, अन्धकार से नहीं, आनन्द से भरा होना, दुःख-दर्द का खिलौना नहीं, शक्ति में ऊपर उठा लिया जाना, दुर्बलता में फेंका जाना नहीं। यह है, अनन्त में जीना और सान्त पर अधिकार रखना। यह है, भगवान् में रहना और उनके साथ उनकी सत्ता में एक होना। स्वयं तू होने का अर्थ है, यह सब और इससे जो कुछ प्रवाहित होता है वह बन जाना।

तू अपने-आपमें स्वतन्त्र है, अतः अपने मन में स्वतन्त्र, अपने प्राण और शरीर में स्वतन्त्र। आत्मा ही स्वतन्त्रता है।

भगवान् के साथ और सभी सत्ताओं के साथ एक हो, स्वयं अपने अन्दर निवास कर, अपने छोटे से अहं में नहीं। आत्मा ही ऐक्य है।

तू स्वयं बन, अमर हो और मृत्यु पर अपना विश्वास न रख, क्योंकि मृत्यु तेरी नहीं, तेरे शरीर की होती है। तेरी आत्मा अमरता है।

अमर होने का अर्थ है, सत्, चित् और आनन्द में अनन्त होना, क्योंकि तेरी आत्मा अनन्त है और जो सान्त है वह केवल उसकी अनन्तता के सहारे जीता है।

तू ये चीज़ें है इसलिए तू ये सब बन सकता है। अगर तू ये चीज़ें न होता तो तू कभी ये न बन पाता। जो कुछ तेरे अन्दर है वही तेरी सत्ता में प्रकट किया जा सकता है। तू इससे भिन्न अवश्य प्रतीत होता है, लेकिन तू अपने-आपको प्रतीतियों का दास क्यों बनाये भला?

बल्कि उठ, अपने परे जा, अपना-आप बन। तू मनुष्य है और मनुष्य का सारा स्वभाव ही है अपने-आपसे अधिक होना। वह पाशविक मनुष्य था अब वह पाशविक मनुष्य से अधिक बन गया है। वह विचारक, शिल्पी

और सुन्दरता की खोज करने वाला है। वह विचारक से अधिक होगा, वह ज्ञान का द्रष्टा होगा। वह शिल्पी से अधिक होगा, वह सृष्टि का स्रष्टा और स्वामी होगा। वह सुन्दरता की खोज करने वाले से अधिक होगा। वह समस्त सुन्दरता और समस्त आनन्द का भोग करेगा। भौतिक, वह अपने अमर तत्त्व को खोजता है, प्राण, वह अमर जीवन और अपनी सत्ता की अनन्त शक्ति को खोजता है। मानसिक और ज्ञान में एकांगी वह समस्त प्रकाश और सम्पूर्ण अन्तर्दर्शन की खोज करता है।

इसको पाना ही अतिमानव होना है, क्योंकि वह मन में से अतिमन में उठ जाना है। उसे भागवत मन कह लो या दिव्य ज्ञान या अतिमन, वह है—भागवत इच्छा और भागवत चेतना की शक्ति और उसका प्रकाश। अतिमानस के द्वारा ही आत्मा ने अपने-आपको देखा और लोकों में अपना सृजन किया। उसी के द्वारा वह उनमें निवास करती और उन पर शासन करती है, उसी के द्वारा वह 'स्वराट्' और 'सम्राट्' है।

अतिमन अतिमानव है, इसलिए मन के परे उठना उसकी शर्त है।

अतिमानव होने का अर्थ है, दिव्य जीवन जीना, देव होना, क्योंकि देवगण भगवान् की शक्तियाँ हैं। वह मानवता के बीच भगवान् की शक्ति है।

भागवत सत्ता में जीना और दिव्य आत्मा की चेतना और उसके आनन्द, उसकी इच्छा और उसके ज्ञान को अपने ऊपर अधिकार करने देना, उसे अपने साथ और अपने द्वारा खेलने देना—यही सच्चा अर्थ है।

यही (सत्ता के) पर्वत-शिखर पर होने वाला तेरा रूपान्तर है। यह अपने अन्दर भगवान् को खोजना और उन्हें अपने आगे सभी चीज़ों में प्रकट करना है। उनकी सत्ता में निवास कर, उनकी ज्योति से चमक, उनकी शक्ति से कार्य कर, उनके आनन्द के साथ आनन्द मना। वह अग्नि और वह सूर्य और वह सागर बन जा। वह आनन्द, वह महानता और वह सुन्दरता बन जा।

जब तू यह कर ले, भले एक अंश में ही, तो तू अतिमानवता के पहले चरण को पा लेगा।

—'मानव से अतिमानव की ओर', पृ. ४-६

हमारे योग का उद्देश्य

हमारे योग का उद्देश्य है आत्म-सिद्धि, आत्म-विलोपन नहीं।

योगी के लिए दो मार्ग हैं, विश्व से किनारा करना या विश्व में पूर्णता पाना। पहला आता है संन्यास से, दूसरा सिद्ध होता है तपस्या से। पहला हमारा स्वागत करता है जब हम सत्ता में भगवान् को खो देते हैं और दूसरा तब सिद्ध होता है जब हम भगवान् में सत्ता को सिद्ध कर लेते हैं। हमारा मार्ग पूर्णता का पथ हो, त्याग का नहीं, हमारा लक्ष्य युद्ध में विजय हो, संग्राम से पलायन नहीं।

बुद्ध और शंकर ने जगत् को मूलतः मिथ्या और दुःख-दैन्य से भरा माना, अतः उनके लिए संसार से पलायन ही एकमात्र बुद्धिमत्ता थी। लेकिन यह जगत् ब्रह्म है, जगत् भगवान् है, जगत् सत्य है, जगत् आनन्द है। मन के अहंकार द्वारा दुनिया को ग़लत समझना मिथ्यात्व है और जगत् में भगवान् के साथ हमारा ग़लत सम्बन्ध ही दुःख-दैन्य है। और कोई मिथ्यात्व नहीं है, दुःख का और कोई कारण नहीं है।

भगवान् ने अपने अन्दर माया द्वारा जगत् की रचना की, लेकिन माया का वैदिक अर्थ भ्रान्ति नहीं है। वह तो प्रज्ञा, ज्ञान, क्षमता, चेतना में विस्तार—'प्रज्ञा' 'प्रसृता' 'पुराणी' है। सर्वशक्तिमान् प्रज्ञा ने जगत् की रचना की है। यह किसी अनन्त स्वप्नद्रष्टा की व्यवस्थित बड़ी भूल नहीं है। सर्वज्ञ शक्ति जगत् को अपने अन्दर या अपने आनन्द में अभिव्यक्त करती या छिपा लेती है। यह मुक्त निरपेक्ष ब्रह्म पर स्वयं उसके अज्ञान द्वारा आरोपित दासता नहीं है।

अगर जगत् ब्रह्म का अपने ऊपर आरोपित दुःस्वप्न होता तो इसमें से जागना हमारे परम प्रयास का स्वाभाविक और एकमात्र उद्देश्य होता और जगत् में जीवन अपरिवर्तनीय रूप में दुःख-दैन्य के साथ बँधा होता तो इस दासता में से भाग निकलना ही खोजने-लायक एकमात्र रहस्य होता। परन्तु जगत्-सत्ता में पूर्ण सत्य सम्भव है क्योंकि यहाँ पर भगवान् सब चीज़ों को सत्य की आँख से देखते हैं और जगत् में पूर्ण आनन्द सम्भव है क्योंकि भगवान् सभी चीज़ों का अमिश्रित स्वाधीनता के साथ रस लेते हैं। हम भी सत्य और आनन्द का रस ले सकते हैं जिसे वेद ने अमृत यानी अमरता

कहा है। अगर हम अभी अपनी अहंकारपूर्ण सत्ता को उनकी सत्ता के साथ पूर्ण ऐक्य में साध सकें तो हम भागवत बोध और भागवत स्वाधीनता ग्रहण करने के लिए सहमत होते हैं।

जगत् भगवान् की स्वयं अपनी सत्ता के अन्दर गति है। हम भागवत चेतना के चक्र और ग्रन्थियाँ हैं जो एक साथ जुड़ कर उनकी गति की प्रक्रिया को सहारा देते हैं। संसार उनके अपने आत्म-सचेतन आनन्द के साथ उनकी लीला है। एकमात्र उन्हीं का अस्तित्व है जो अनन्त, मुक्त और पूर्ण हैं। हम उसी सचेतन आनन्द के आत्म-गुणन या विविध रूप हैं जिन्हें लीला में उसके साथी बनने के लिए निक्षिप्त किया गया है। संसार एक सूत्र, एक लय-ताल, एक प्रतीक-पद्धति है जो स्वयं भगवान् की चेतना में भगवान् को स्वयं अपने प्रति प्रकट करती है—इसका कोई जड़-भौतिक अस्तित्व नहीं है बल्कि इसका अस्तित्व स्वयं भगवान् की चेतना और आत्माभिव्यक्ति में है। भगवान् की तरह हम भी अपनी आन्तरिक सत्ता में ऐसा तत् हैं जो अभिव्यक्त हुआ है, लेकिन अपनी बाहरी सत्ता में उस सूत्र के पद, लय-ताल की धुन, उस पद्धति के प्रतीक हैं। चलो हम भगवान् की गति को आगे बढ़ायें, उनकी लीला में भाग लें, उनके सूत्र को कार्यान्वित करें, उनके सामञ्जस्य को चरितार्थ करें, उनकी पद्धति में अपने अन्दर उनको अभिव्यक्त करें। यही हमारा आनन्द और हमारी आत्म-परिपूर्ति है। इसी उद्देश्य से हम जो विश्व से परे और उससे आगे हैं, विश्व सत्ता में प्रविष्ट हुए हैं। पूर्णता को कार्यान्वित करना है, सामञ्जस्य को प्राप्त करना है। अपूर्णता, सीमांकन, मृत्यु, दुःख, अज्ञान, जड़-भौतिक सूत्र के पहले पद हैं और तभी तक समझ में नहीं आते जब तक हम अधिक विस्तृत पदों को कार्यान्वित न कर लें और सूत्र की फिर से व्याख्या न कर लें। ये संगीतकार के सुर मिलाते समय पहले विसंवाद हैं। अपूर्णता में से हमें पूर्णता का निर्माण करना है, सीमांकन में से अनन्तता को पाना है, मृत्यु में से अमरता को खोजना है, दुःख में से भागवत आनन्द को प्राप्त करना है, अज्ञान में से भागवत आत्म-ज्ञान का उद्धार करना है, जड़-भौतिक में से आत्मा को प्रकट करना है। अपने लिए और विश्व के लिए इस उद्देश्य को कार्यान्वित करना हमारी योग-साधना का उद्देश्य है।

—'मानव से अतिमानव की ओर' , पृ. १६५-६७

योग में धैर्यपूर्वक लगे रहो

... तुम मार्ग को नीरस इसीलिए अनुभव करते हो कि तुमने अभी तक इसके परले सिरे का भी स्पर्श नहीं किया है। परन्तु सब मार्गों में अपनी-अपनी नीरस घड़ियाँ आती हैं और ये घड़ियाँ सभी के तो नहीं, पर अधिकतर लोगों के साधना-पथ में शुरू-शुरू में आती ही हैं। जिस आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अवस्था में अनुभव के द्वार खुल सकते हैं और व्यक्ति एक दृश्य से दूसरे दृश्य पर चलता चला जा सकता है, उस तक पहुँचने के लिए तैयारी की सुदीर्घ अवस्था आवश्यक है—यद्यपि उसके बाद भी नये द्वार सामने आ खड़े हो सकते हैं और वे तब तक खुलने से इन्कार कर सकते हैं जब तक सब कुछ तैयार नहीं हो जाता। जब तक व्यक्ति में आत्म-निरीक्षण और आत्म-विजय के लिए उत्कट उत्साह न हो और वह प्रयत्न तथा संघर्ष के प्रत्येक पग को मनोरञ्जक अनुभव न करे अथवा जब तक व्यक्ति को उस विश्वास तथा आत्मदान का रहस्य प्राप्त नहीं है या प्राप्त न हो जाये, जो पथ के पग-पग पर भगवान् का हाथ देखता है और कठिनाई में भी उन्हीं की कृपा एवं उन्हीं का पथ-प्रदर्शन पाता है, तब तक यह काल नीरस और सूना लग सकता है। (योग का इस रूप में वर्णन कि वह कठिनाई और संघर्ष के कारण "प्रारम्भ में विषतुल्य कटु" है, किन्तु उपलब्धि के हर्ष, मुक्ति की शान्ति या दिव्य आनन्द के कारण "अन्त में अमृततुल्य मधुर" है तथा साधकों और भक्तों द्वारा नीरसता की घड़ियों का बहुधा वर्णन इस बात को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर देता है कि यह इस योग की कोई निराली विशेषता नहीं है।) सभी पुरातन अभ्यास-प्रणालियाँ यह बात स्वीकार करती थीं और इसी कारण *गीता* में कहा गया है कि योगाभ्यास धीर-स्थिर भाव से करना चाहिये—ऐसे हृदय से जो स्वयं को निराशा से आच्छन्न न होने दे। यह एक ऐसा उपदेश है जो इस मार्ग के लिए संगत है, साथ-ही-साथ *गीता* के मार्ग के लिए तथा वेदान्त के कठिन "क्षुरस्य धारा" मार्ग के लिए और अन्य प्रत्येक मार्ग के लिए भी। यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि नीचे उतरने वाला आनन्द जितना अधिक ऊँचा होगा, साधना का प्रारम्भ उतना ही अधिक कठिन होगा, रास्ते में जो मरुस्थल पार करने हैं वे उतने ही अधिक शुष्क होंगे।

निःसन्देह, अतिमानसिक अभिव्यक्ति केवल शान्ति, शुद्धि, बल, ज्ञान की शक्ति ही नहीं लाती, ये चीज़ें वास्तव में अन्तिम साक्षात्कार के लिए अनिवार्य अवस्थाएँ प्रस्तुत करती हैं, उसके अंग हैं, परन्तु उसकी परिपूर्णता के सारतत्त्व तो हैं, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द। चाहे परम आनन्द परम कृतार्थता की स्थिति में ही प्राप्त होता है, पर वास्तव में ऐसा कोई कारण नहीं कि मार्ग में भी प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य क्यों न मिलें। कइयों ने किसी अन्य अनुभव की प्राप्ति से पूर्व प्रारम्भिक अवस्था में ही मार्ग का प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य प्राप्त किया है। परन्तु इसका रहस्य हृदय में है, न कि मन में—उस हृदय में जो अपने अन्दर के किवाड़ खोल देता है और फिर जिसमें से स्वयं आत्मा की ज्योति विश्वास और आत्मदान की ज्वाला के रूप में बाहर झिलमिलाने लगती है। उस आन्तरिक अग्नि के सामने मन के वाद-विवाद और कठिनाइयाँ राख हो जाती हैं और मार्ग चाहे जितना भी लम्बा या दुर्गम हो, वह प्रेम और आनन्द की ओर ले जाने वाला ही नहीं, बल्कि प्रेम और आनन्द में से होकर जाने वाला ज्योतिर्मय मार्ग बन जाता है। परन्तु, यदि आनन्द प्रारम्भ में प्राप्त न भी हो फिर भी व्यक्ति धीरतापूर्ण अध्यवसाय से उसे प्राप्त कर सकता है—निःसन्देह, अतिमानसिक मार्ग पर किसी भी प्रकार की पहुँच के लिए आन्तरात्मिक परिवर्तन अनिवार्य प्रारम्भिक अवस्था है और इस परिवर्तन का अपना असली मर्म ही है आन्तरिक प्रेम, हर्ष और भक्ति का कुसुमित होना। कई व्यक्ति पहले-पहल मानसिक उद्घाटन लाभ कर उसके फलस्वरूप प्रारम्भ में ही शान्ति, प्रकाश एवं ज्ञानोदय प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु ऊपर से होने वाला यह उद्घाटन तब तक अधूरा रहता है जब तक कि इसके बाद हृदय का अन्दर की ओर उद्घाटन नहीं हो जाता। क्योंकि तुम्हारे मन और प्राण के संघर्षों ने योग में तुम्हारा प्रथम प्रवेश नीरस बना दिया है, अतः यह मान लेना कि योग शुष्क और आनन्दरहित है, भ्रान्ति और भूल है। यदि तुम दृढ़ता से लगे रहोगे तो माधुर्य के गुप्त स्रोत स्वतः समुद्भूत होंगे, यद्यपि अब सन्देह और अतृप्त लालसा के अजगर इन पर पहरा दे रहे हैं। असन्तोष के उद्गार तुम भले ही प्रकट करो—यदि तुम्हारी प्रकृति तुम्हें इसके लिए विवश करती है—किन्तु योग में धैर्यपूर्वक लगे रहो।

—'श्रीअरविन्द के पत्र' (३), पृ. ६१८-२०

ज्योतिर्मय पथ का निर्माण

प्राचीन योगी और जिज्ञासु जिस चीज़ के लिए सबसे पहले प्रार्थना करते थे वह थी शान्ति; और जिस अवस्था को वे भगवान् के साक्षात्कार के लिए सर्वोत्तम बतलाते थे वह थी मन की अचञ्चलता और निश्चल-नीरवता—और इससे हमेशा ही शान्ति प्राप्त होती है। प्रसन्न और आलोकित हृदय आनन्द के लिए उपयुक्त पात्र है, और भला कौन कहेगा कि आनन्द —या जो कुछ उसके लिए तैयार करता है—भागवत मिलन में बाधक है? जहाँ तक निराशा का प्रश्न है, यह निश्चय ही मार्ग का एक भयंकर बोझ है। हाँ, व्यक्ति को कभी-कभी इसमें से गुज़रना तो होता ही है... परन्तु इसको बार-बार दोहराना बाधा के सिवा और कुछ नहीं हो सकता... मुझे अच्छी तरह मालूम है कि दुःख-दर्द एवं संघर्ष और घोर निराशा पथ पर स्वाभाविक हैं, यद्यपि ये अवश्यम्भावी नहीं हैं और इनकी स्वाभाविकता का कारण यह नहीं है कि ये सहायक हैं बल्कि यह कि ये चीज़ें इस मानव-प्रकृति के उस अन्धकार द्वारा हम पर लादी जाती हैं, जिसमें से संघर्ष करते हुए हमें प्रकाश की ओर जाना है।... रामकृष्ण इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि योग का एक ज्योतिर्मय मार्ग भी है। उन्होंने शायद यहाँ तक कहा है कि वह अधिक शीघ्र पहुँचाने वाला तथा अधिक अच्छा मार्ग है।

यह मैं इसलिए नहीं कह रहा कि स्वयं मैंने ज्योतिर्मय मार्ग का अनुसरण किया है अथवा कठिनाई, कष्ट और संकट से पीठ फेरी है। मैंने इन चीज़ों का अपना पूरा हिस्सा भोगा है और माताजी ने तो अपने पूरे हिस्से से भी दसगुना अधिक भोगा है। परन्तु इसका कारण यह था कि 'पथ' खोज निकालने वालों को विजयी होने के लिए इन चीज़ों का सामना करना था। ऐसी कोई भी कठिनाई नहीं जो साधक पर आ सकती हो पर हमारे मार्ग में हमारे सामने न आयी हो। अनेक कठिनाइयों के साथ तो उन्हें जीत सकने से पहले हमें सैकड़ों बार संघर्ष करना पड़ा है (वास्तव में, यह भी बात को कुछ घटा करके कहना है)। बहुत-सी तो अभी तक विरोध करती हुई विद्यमान हैं, मानों उन्हें तब तक रहने का अधिकार है जब तक सम्पूर्ण पूर्णता प्राप्त न हो जाये। परन्तु दूसरों के लिए उनकी अनिवार्य आवश्यकता हमने कभी स्वीकार नहीं की। सच पूछो तो भविष्य में दूसरों

के लिए सुगमतर मार्ग निश्चित करने के लिए ही हमने यह भार ढोया है। इसी उद्देश्य से माताजी ने एक बार भगवान् से प्रार्थना की थी कि इस पथ के लिए जो भी कठिनाइयाँ, विपत्तियाँ, दुःख-कष्ट आवश्यक हों वे दूसरों के बजाय उन पर ही आ जायें। यह अभीष्ट उन्हें वर्षों के दैनिक तथा भीषण संघर्षों के परिणामस्वरूप इस हद तक प्रदान किया गया है कि जो लोग उन पर पूर्ण तथा सच्चा भरोसा रखते हैं वे ज्योतिर्मय मार्ग पर चलने में समर्थ होते हैं और जो भरोसा नहीं रख सकते वे भी जब भरोसा कर पाते हैं तब अपने मार्ग को सहसा सुगम अनुभव करते हैं और अगर वह पुनः कठिन हो भी जाता है तो वह केवल तभी जब अविश्वास, विद्रोह, अभिमान या अन्य प्रकार के अन्धकार उन्हें घेर लेते हैं। ज्योतिर्मय पथ कोई एकदम काल्पनिक चीज़ नहीं है।

परन्तु तुम पूछोगे, जो ऐसा नहीं कर सकते उनका क्या होगा? हाँ, तो उन्हीं के हित मैं परिमित समय के अन्दर अतिमानसिक शक्ति को अवतरित करने के लिए अपने पूरे बल से प्रयास कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि यह अवतरित होकर रहेगी, परन्तु मैं इसे निकट भविष्य में उतारना चाहता हूँ और पार्थिव प्रकृति के किसी भी अन्धकारमय प्रतिरोध के या इसे रोकने के लिए यत्नशील आसुरी शक्तियों के प्रचण्ड आक्रमणों के होते हुए भी, यह शक्ति धरती के निकट आ रही है। अतिमानस—तुम्हारी कल्पना के अनुसार, उदासीन—कठोर और पत्थर-जैसी वस्तु नहीं है। वह अपने अन्दर भागवत प्रेम के साथ-साथ भागवत सत्य की उपस्थिति को भी लिये रहता है और जो लोग उसे स्वीकार करते हैं उनके लिए इस लोक में उसके प्रभुत्व का अर्थ है, एक ऐसा सरल और निष्कण्टक पथ जिसमें कोई दीवाल या बाधा न हो और जिसकी सुदूर आशा प्राचीन ऋषियों को दिखायी दी थी।

अन्धकारमय पथ भी है और ऐसे बहुत लोग हैं जो, ईसाइयों की भाँति, 'आध्यात्मिक दुःख' को मूल मन्त्र मान लेते हैं। बहुतेरे इसे विजय का अपरिहार्य मूल्य मानते हैं। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में यह ऐसा हो भी सकता है, जैसे कि प्रारम्भ में कितने ही लोगों के जीवन में यह ऐसा रहा है, अथवा कोई व्यक्ति चाहे तो इसे अपनी पसन्द के अनुसार ऐसा बना सकता है।... मेरा विश्वास है कि अन्धकारमय शक्तियों के द्वारा हम पर लादी हुई अग्नि-परीक्षाएँ या उनके आक्रमण यदि इस प्रकार सहन किये

जायें तो वे व्यर्थ नहीं जाते। उन पर प्राप्त की गयी प्रत्येक विजय के बाद एक प्रत्यक्ष प्रगति दिखायी देती है। बहुधा ये शक्तियाँ हमारे अन्दर की उन कठिनाइयों को, जिन्हें हमें पार करना है, दिखा देती और यह कहती प्रतीत होती हैं कि "तुम्हें यहाँ विजय प्राप्त करना होगी।" फिर भी यह एक अति अन्धकारमय और विकट मार्ग है; किसी भी व्यक्ति को इसका अनुसरण तब तक नहीं करना चाहिये जब तक वह विवश ही न हो जाये।

कितनों ही ने भगवत्कृपा पर विश्वास न कर तपस्या या अन्य किसी साधन पर भरोसा रखते हुए योग किया है। वास्तव में भगवत्कृपा पर विश्वास नहीं बल्कि उच्चतर सत्य या उच्चतर जीवन के लिए अन्तरात्मा की माँग ज़्यादा ज़रूरी है। जहाँ ऐसी माँग विद्यमान हो वहाँ भगवत्कृपा अवश्यमेव सहायता करेगी, फिर चाहे हम उस पर विश्वास करें या न करें। यदि तुम्हें उस पर विश्वास हो तो उससे काम शीघ्र होता है और सारी बातें आसान हो जाती हैं; यदि तुम अभी विश्वास न कर सको, फिर भी अन्तरात्मा की अभीप्सा, चाहे कितनी भी कठिनाई और संघर्ष के साथ क्यों न हो, अपने-आपको सार्थक सिद्ध करेगी।

—'श्रीअरविन्द अपने विषय में', पुस्तक से, पृ. ४०८-११

किसी भी प्रकार के निरुत्साह को अपने ऊपर हावी न होने दो और भागवत कृपा पर किसी प्रकार का अविश्वास न रखो। जो भी कठिनाइयाँ तुम्हारे बाहर हैं, जो भी दुर्बलताएँ तुम्हारे अन्दर हैं, यदि तुम अपनी श्रद्धा और अपनी अभीप्सा पर दृढ़तापूर्वक डटे रहो तो गुह्य शक्ति तुम्हें उनमें से पार निकाल लायेगी और तुम्हें यहाँ वापस ले आयेगी। यदि तुम विरोधों और कठिनाइयों से दबे हुए हो, यदि तुम लड़खड़ाते हो, यदि तुम्हारे लिए मार्ग बन्द प्रतीत होता है फिर भी अपनी अभीप्सा को पकड़े रहो; यदि कुछ समय के लिए श्रद्धा मेघाच्छन्न हो गयी है तो मन और हृदय में हमारी ओर मुड़ो और बादल छँट जायेंगे। पत्रों के रूप में बाहरी सहायता का जहाँ तक प्रश्न है, हम उसे तुम्हें देने के लिए पूरी तरह से तैयार हैं... परन्तु पथ पर डटे रहो—फिर अन्त में सारी चीजें अपने-आप खुल जायेंगी और परिस्थितियाँ आन्तरिक आत्मा के सामने झुक जायेंगी।

—श्रीअरविन्द

मनुष्य

शास्त्र मनुष्य और भागवत तथा वैश्व परम सत्ता के लिए एक ही शब्द का प्रयोग करते हैं। वह है—पुरुष—मानों वे मानवजाति के साथ भगवान् की एकता पर ज़ोर दे रहे हों। नर तथा नारायण वे शाश्वत युगल हैं, जो दो होते हुए भी एक ही हैं—शाश्वत रूप से भिन्न, शाश्वत रूप से समान। कहते हैं कि नारायण वह है जो जलों में निवास करता है, लेकिन मैं समझता हूँ कि इसका अर्थ है, वह जो समस्त मानवजाति का सारतत्त्व और निष्कर्ष है। जहाँ कहीं नर है वहाँ नारायण हैं; क्योंकि दोनों को अलग नहीं किया जा सकता।...

लेकिन, कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य भागवत सम्भावनाओं से भरपूर है—वह न केवल भौतिक क्रमविकास में एक पड़ाव है, बल्कि वह स्वयं आध्यात्मिक क्रमविकास का वह क्षेत्र है जिसका आदि भी वह है और अन्त भी वही। केवल तभी जब विकास-क्रम में मनुष्य का पदार्पण हुआ कि भगवान् सन्तुष्ट हुए—तब पशु-आकारों को तिलाञ्जलि देकर देवताओं ने हर्षध्वनि की—**सुकृतमेव**—मनुष्य को सचमुच अनुपम रूप से गढ़ा गया; अब उच्चतर क्रमविकास का आरम्भ किया जा सकता है। मनुष्य 'ईश्वर' के समान है। वह अन्य सभी रूपों का—पशु से लेकर देवों तक के सभी प्रारूपों का कुलयोग है। दूसरे रूप अपने-अपने लोक में स्थिर हैं, मानव अनन्त रूप से नमनीय है, जहाँ उच्चतर देवगण भी अचल-स्थैतिक हैं, मनुष्य ऊर्जा से भरपूर, चलायमान है; यद्यपि अपनी वर्तमान अवस्था में मनुष्य ने अभी तक वह उपलब्ध नहीं किया है, अभी तो वह देवदूतों से भी कुछ नीचे ही खड़ा है, लेकिन अपने अन्तिम रूप में वह देवताओं से भी ऊपर उठ जायेगा। दूसरे लोकों के स्थिर तथा अपरिवर्तनीय प्रारूप, जैसे—पशु, देव, दानव, दैत्य, अर्धदेव इत्यादि बस अपने ही लोक में विकास कर सकते हैं, वे उससे परे नहीं जा सकते। अपनी जाति को लाँघ कर कुछ और बनने के लिए उन्हें भी पृथ्वी पर मानव शरीर में ही जन्म लेना होगा।

CWSA खण्ड १२, पृ. ७

हरिनाम तुम्हें सभी कष्टों से मुक्त कर देगा

योग क्या है? वस्तुतः यह कोई प्रक्रिया नहीं है। जब हम योग के बारे में सोचते हैं तो बस यही अनुमान लगाते हैं कि गुफा में अपने-आपको बन्द किये बैठा कोई संन्यासी अपनी योग-साधना में जुटा हुआ है। वह सभी सांसारिक बन्धनों से कट जाता है। न उसे दीन की चिन्ता रहती है न दुनिया की। लेकिन श्रीकृष्ण 'योग' का दूसरा अर्थ बतलाते हैं। वे कहते हैं : *कर्मयोग ही योग है*। इसमें पहला चरण है—समता प्राप्त करना। समता का अर्थ है कि तुम सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, लाभ-अलाभ, जय-पराजय सभी को समान दृष्टि से देखो; शान्त और अचञ्चल मन के साथ दिये हुए कार्य में संलग्न रहो, न जगत् की सराहना से न निन्दा से विक्षुब्ध होओ। जिस किसी को यह समता प्राप्त हो जाती है उसके न मित्र रहते हैं न शत्रु। वह सब कुछ समभाव से देखता है क्योंकि उसे ज्ञान प्राप्त है, क्योंकि उसने अपने अन्दर झाँक कर, बाहर की दुनिया पर दृष्टि फेरी है। वह स्वयं को सर्वत्र और सबको अपने अन्दर देखता है। वह सब में स्वयं को पाता है क्योंकि 'ईश्वर' सब में हैं। वह चाहे ऊपर देखे चाहे नीचे, उत्कृष्ट पर दृष्टिपात करे चाहे अधम पर, वह दोनों में कोई अन्तर ही नहीं पाता, क्योंकि वह देखता है कि सब में वे 'नारायण' ही विराजमान हैं। वह देखता है कि वह तो बस उसका एक अंश है जो घर-घर में व्याप्त है। अगर भेद हैं भी तो वे अस्थायी और बाहरी हैं। वे तो वासुदेव ही अपनी लीला कर रहे हैं। उसे यह चिन्ता नहीं रहती कि कल क्या होगा, क्योंकि उसकी क्रियाएँ सामान्य विधि-विधान के अनुसार नहीं चलतीं। जिस व्यक्ति का भगवान् के साथ सम्पर्क है उसे विधि-विधान से पथ-प्रदर्शन लेने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह जानता है कि भगवान् व्यष्टि भी हैं और समष्टि भी। उसे अपने कर्मों के फल की कोई चिन्ता नहीं होती, वह विक्षुब्ध नहीं होता। उसके लिए तो भगवान् कह ही चुके हैं—*कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन*—यानी, कर्म करने का तुम्हें अधिकार है, फलप्राप्ति का नहीं। कभी कर्मफल में आसक्ति मत रखो। कर्म करो, परिणाम मुझ पर छोड़ दो...

योग का अर्थ है, द्वन्द्व से मुक्ति। योगी सुख और दुःख, क्रोध और घृणा तथा आसक्ति, पसन्द तथा नापसन्द सभी से अछूता रहता है क्योंकि वह इन सभी चीज़ों को एक ही दृष्टि से देखता है। वह न दुर्भाग्य से कतराता

है न सौभाग्य से, न दुःख में बिलखता है न सुख में पगलाता है। शरीर के बन्धन से ऊपर उठ जाता है वह, क्योंकि कोई भी व्यक्ति न उसे सुख दे सकता है न दुःख; उसके अन्दर ही अपने बल, अपने आनन्द और अपने सुख का स्रोत होता है। यही वह स्वतन्त्रता है जिसे *गीता* कहती है कि योग प्रदान करता है, वह स्वतन्त्रता जिसे लोकभाषा में 'मुक्ति' कहा जाता है। इसी मुक्ति को प्रदान करने का श्रीकृष्ण ने *गीता* में वचन दिया है। वे कहते हैं कि अगर तुम योग में लीन होकर कर्म करो तो तुम दुःख-दर्द से ऊपर उठ जाते हो, यहाँ तक कि प्रत्येक वस्तु से ऊपर उठ जाते हो। तुम भय या पाप से मुक्त हो जाते हो, क्योंकि तब तुम अपने लिए क्रिया नहीं करते। तुम इसलिए क्रिया नहीं करते कि उससे तुम्हें ख़ुशी मिलेगी, बल्कि भगवान् के लिए कर्म करते हो। इस तरह तुम्हें योगपथ पर चलना चाहिये। अगर तुम ख़ुश रहना चाहते हो तो तुम्हें अपने सभी कर्म भगवान् को अर्पित कर देने चाहियें। तुम्हें 'उनके' लिए समस्त कार्य करना चाहिये, तब पाप तुम्हें छू भी नहीं पायेगा। स्वार्थ के कारण ही पाप तुम्हें छूता है। अगर तुम यह उपलब्ध कर लो कि सबमें नारायण हैं तो इसका परिणाम यह होता है कि तुम अपने तुच्छ, व्यक्तिगत और सीमित स्व को भुला बैठते हो। तुम्हारी दृष्टि विस्तार की ओर खुल जाती है। तुम अपने-आपको परिवार में, समाज में, जाति में, मानवता में, संसार की सभी वस्तुओं में देखते हो। तुम स्वयं को पूरी तरह से भूल जाते हो। तुम जाति के लिए, औरों के लिए, मानवता के लिए कर्म करते हो। जब तुम अपने स्वार्थ के पीछे भागते हो तो वह भगवान् का कार्य नहीं होता। *गीता* का कहना है कि "तुम्हारी भलाई भगवान् का मामला है"। अगर 'उनके' लिए काम करो तो तुम्हें भयभीत होने की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि 'प्रभु' के करुणामय हाथ तुम्हें हमेशा घेरे रहेंगे। योग हमें उनके उन्हीं करों की ओर बढ़ाता है। *गीता* की शिक्षा का अनुसरण करो, वह तुम्हें सभी पाप और दुःख की सम्भावनाओं से मुक्त कर देगी। श्रीकृष्ण कहते हैं :

मामैकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

सभी कुछ उन्हीं कृष्ण के अर्पण कर दो—इसी लक्ष्य की ओर तुम बढ़ रहे हो। हरिनाम तुम्हें सभी कष्टों से मुक्त कर देगा।

CWSA खण्ड ८, पृ. ५०-५२

अतिमानस का अवतरण निश्चित

जगत् की बुरी दशा के बारे में मैं पहले ही कह चुका हूँ। इस सम्बन्ध में गुह्यवेत्ताओं का सामान्य विचार यह है कि दशा जितनी ही अधिक बुरी होती है ऊपर से दिव्य हस्तक्षेप का होना या नवीन प्रकाश का आना उतना ही अधिक सम्भव होता है। साधारण मन को इस बात का पता नहीं चल सकता—उसके लिए बस यही चारा है कि या तो वह इस बात पर विश्वास करे या न करे अथवा प्रतीक्षा करे और राह देखता रहे।

अब रहा यह प्रश्न कि क्या भगवान् सचमुच ही चाहते हैं कि ऐसा कुछ घटित हो। इस बारे में मेरा विश्वास है कि उन्हें यह अभिमत है। मुझे पूरी तरह से, निश्चित रूप से, मालूम है कि अतिमानस एक सत्य है और जगत् की वस्तुस्थिति को देखते हुए, उसका यहाँ आना अवश्यम्भावी है। प्रश्न तो केवल कब और कैसे का है। और वह भी कहीं ऊपर से निश्चित और पूर्व-निर्धारित हो चुका है। परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए यहाँ विरोधी शक्तियों के बीच घमासान लड़ाई चल रही है, क्योंकि पार्थिव जगत् में वह पूर्व-निर्धारित परिणाम छिपा हुआ है। और यहाँ जो कुछ हम देखते हैं वह तो सम्भावनाओं तथा शक्तियों का भँवर ही है और वे सम्भावनाएँ एवं शक्तियाँ किसी चीज़ की प्राप्ति के लिए यत्न कर रही हैं पर इस सबका भविष्य मनुष्य की दृष्टि से ओझल है। फिर भी इतना निश्चित है कि कुछ-एक आत्माएँ इसलिए भेजी गयी हैं कि वह अभी सिद्ध हो जाये। बस, वस्तुस्थिति यही है। मेरी श्रद्धा और संकल्प इसी ओर हैं कि यह अभी सिद्ध हो। अवश्य ही, यह सब मैं मानवीय बुद्धि के धरातल से ही कह रहा हूँ, या यूँ कहें कि गुह्य-बौद्धिक शैली में कह रहा हूँ। इससे अधिक कहना विषय की सीमा को पार करना होगा। मैं समझता हूँ कि तुम यह नहीं चाहते कि मैं भविष्यवाणी करना शुरू कर दूँ। बुद्धिवादी होने के कारण तुम ऐसा चाह भी नहीं सकते।

२५-१२-१९३४

—'श्रीअरविन्द अपने विषय में', पुस्तक से, पृ. १८७

नीलम की कहानी

(यह कहानी माताजी ने १९०६ में अधिमानस-सृष्टि के आदर्श को प्रकट करते हुए लिखी थी।)

बहुत पुरानी बात है, सुदूर पूर्व में एक छोटा-सा देश था। वहाँ हर चीज़ में सुव्यवस्था थी और हर बात में सामञ्जस्य। हर व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर, सबके अधिक-से-अधिक भले के लिए अपनी भूमिका निभाता था।

किसान, कारीगर, मज़दूर, व्यापारी, सबकी एक ही महत्त्वाकांक्षा थी, एक ही चिन्ता थी—अपना काम यथासम्भव अच्छे-से-अच्छा करना। और यह उनके अपने हित में था। पहला कारण तो यह था कि उन्होंने अपना काम अपनी मरज़ी से, आज़ादी के साथ चुना था; वह उनकी प्रकृति के साथ मेल खाता था और उन्हें आनन्द देता था, और फिर वे जानते थे कि हर अच्छे काम का उचित पुरस्कार होता है। उन्हें, उनके बीवी-बच्चों को फ़ालतू ऐश के सामान तो नहीं, पर ज़रूरत की सभी चीज़ें प्रचुर मात्रा में मिलती थीं और जीवन शान्त और सुखमय था। लोग सन्तुष्ट थे।

वैज्ञानिक और कलाकार संख्या में कम थे, लेकिन सबको अपने विज्ञान और अपनी कला से प्रेम था—वही तो उनके जीवन का उद्देश्य था। उनका कृतज्ञ देश उनके जीवन-यापन की व्यवस्था करता था, क्योंकि उनके उपयोगी शोधों और उन्नत कर्मों का लाभ और सुख पहले उसे ही मिलता था। इस प्रकार जीवन-संघर्ष की चिन्ताओं से मुक्त, वैज्ञानिकों का एक ही लक्ष्य था कि उनके परीक्षण, उनके शोध-कार्य, उनका गभीर और निष्ठापूर्ण अध्ययन मानवजाति के दुःख दूर करने में लगें; ज्योति और सुख देने वाले ज्ञान के द्वारा अन्धविश्वास और भय को अधिक-से-अधिक दूर खदेड़ दिया जाये; मानवजाति के तेज, ओज और योगक्षेम में वृद्धि हो। कलाकार अपनी सारी संकल्प-शक्ति को कला पर केन्द्रित कर सकते थे और उनकी एक ही इच्छा थी : प्रत्येक अपनी उच्चतम, व्यक्तिगत धारणा के अनुसार सौन्दर्य को व्यक्त करे।

उनमें मित्र और पथ-प्रदर्शक के तौर पर चार दार्शनिक थे जिनका सारा जीवन गहरे अध्ययन और आलोकमय चिन्तन-मनन में बीतता था ताकि वे मानव-ज्ञान के क्षेत्र को निरन्तर विस्तृत करते रहें और अभी तक जो

रहस्य है उसके परदों को एक-एक करके उठाते जायें।

सभी सन्तुष्ट थे क्योंकि उनके आगे कोई स्पर्धा या प्रतियोगिता नहीं थी और वे अपनी मरज़ी के अनुसार अपने-आपको काम या अध्ययन में लगा सकते थे। सब सुखी थे इसलिए उन्हें बहुत-से विधि-विधानों की ज़रूरत न थी। उनका क़ानून सबको बस एक सरल-सहज-सी सलाह देता था: "अपना स्व-रूप प्राप्त करो।" सबके लिए बस एक ही विधान था जिसका कठोरता के साथ पालन करना ज़रूरी था और वह था, सद्भाव और उदारता का विधान जिसका उच्चतम तत्त्व है न्याय। यह उदारता किसी प्रकार के अपव्यय को नहीं स्वीकारती और न ही स्वतन्त्र विकास में किसी तरह की बेड़ियों को सह सकती है। इस प्रकार, बहुत स्वाभाविक तरीक़े से, प्रत्येक अपने लिए और साथ ही समुदाय के लिए भी काम करता है।

इस सुव्यवस्था और सामञ्जस्य के देश में एक ऐसे राजा का राज था जो केवल इसलिए राजा बना था क्योंकि वह सबसे अधिक समझदार और बुद्धिमान् था, उसी के अन्दर यह क्षमता थी कि उन्हें वह सब दे सके जिसकी उन्हें ज़रूरत थी; केवल वही इतना प्रबुद्ध था कि दार्शनिकों के उच्चतम चिन्तन को समझ सके और उनका मार्गदर्शन भी कर सके और साथ ही इतना व्यावहारिक था कि अपनी प्रजा की, जिसकी आवश्यकताओं से वह भली-भाँति परिचित था, सुव्यवस्था और कल्याण पर नज़र रख सके।

हम जिस समय की कहानी सुना रहे हैं उस समय यह विलक्षण राजा काफ़ी वयस्क हो चुका था—उसकी उम्र दो सौ वर्षों से अधिक थी—और यद्यपि उसका दिमाग बिलकुल साफ़ था, वह पूरी तरह ऊर्जा और उत्साह से भरा रहता था, फिर भी वर्षों से अपने कन्धों पर पड़ी भारी ज़िम्मेदारियों से कुछ थक-सा चला था और अब निवृत्त होने की सोच रहा था। उसने अपने छोटे बेटे, मेओथा, को पास बुलाया। राजकुमार साधारण पुरुषों से ज़्यादा सुन्दर और नाना प्रकार की बातों में प्रवीण था। उसकी उदारता न्याय को छूती थी; उसकी बुद्धि सूर्यालोक की न्याईं चमकती थी और उसकी समझदारी की किसी से तुलना नहीं की जा सकती थी। उसने अपनी जवानी का कुछ समय मज़दूरों और कारीगरों के बीच बिताया था ताकि अपने निजी अनुभव से जान सके कि उनके जीवन की माँगें और आवश्यकताएँ क्या हैं। और बाक़ी समय एकान्त में, या फिर महल के चतुष्कोण दुर्ग में

दार्शनिकों को गुरु मान कर अध्ययन या ध्यानस्थ विश्राम में लगाया था।

मेओथा ने सादर अभिवादन किया तो पिता ने उसे अपने साथ वाले आसन पर बिठा कर कहा :

"मेरे बेटे, मैंने इस देश में एक सौ सत्तर वर्षों से अधिक राज किया है और यद्यपि आज तक सभी सद्भावनापूर्ण लोग मेरे शासन से सन्तुष्ट मालूम होते हैं, लेकिन मुझे भय है कि शीघ्र ही प्रौढ़ अवस्था मुझे सुव्यवस्था रखने और सबका कल्याण करने के बहुत भारी दायित्व को ख़ुशी से उठा सकने में बाधा देगी। मेरे बेटे, तुम ही मेरी आशा और मेरे आनन्द हो। प्रकृति तुम्हारे साथ बहुत उदार रही है; उसने तुम्हारे ऊपर उपहारों की वर्षा की है और बुद्धिमत्तापूर्ण तथा नियमित शिक्षा के द्वारा तुमने उन्हें बहुत सन्तोषजनक रूप में विकसित किया है। सारा देश, सामान्य किसानों से लेकर हमारे महान् दार्शनिकों तक, सबको तुम्हारे ऊपर सम्पूर्ण और सहानुभूतिपूर्ण विश्वास है; तुमने अपनी उदारता के द्वारा उनका प्रेम और न्याय के द्वारा उनका आदर-सम्मान कमाया है, और यह स्वाभाविक है कि जब मैं भली-भाँति कमाये विश्राम की माँग करूँगा तो वे स्वाभाविक रूप से तुम्हें ही चुनेंगे। लेकिन जैसा तुम जानते ही हो कि पुरानी परम्परा के अनुसार कोई भी इस सिंहासन पर तब तक नहीं बैठ सकता जब तक कि वह एक से दो न हो जाये, अर्थात्, सर्वांगीण अनुकूलता के साथ, उस स्त्री के साथ एक न हो जाये जो उसे क्षमताओं और रुचियों के पूर्ण मेल के द्वारा सन्तुलन की शान्ति दे सके। इस गठबन्धन-परम्परा की याद दिलाने के लिए ही मैंने तुम्हें यहाँ बुलाया है और साथ ही मुझे यह पूछना था कि क्या तुम किसी ऐसी युवती से मिले हो जो हमारी इच्छा के अनुसार अपने जीवन को तुम्हारे जीवन के साथ जोड़ने के लिए योग्य और इच्छुक हो?"

"पिताजी, मेरे लिए बड़े आनन्द की बात होती यदि मैं यह कह पाता कि 'मैंने उसे पा लिया है जिसके लिए मेरी सारी सत्ता प्रतीक्षा कर रही है', पर खेद है, अभी तक बात ऐसी नहीं है। इस राज्य की प्रायः सभी सुसंस्कृत युवतियाँ मेरी परिचित हैं, उनमें से बहुतों के लिए मुझे सच्ची सहानुभूति है, सच्चा अहोभाव है, परन्तु किसी ने मेरे अन्दर वह प्रेम नहीं जगाया जो एकमात्र न्यायसंगत बन्धन बन सके, और शायद अपने-आपको धोखा दिये बिना मैं यह भी कह सकता हूँ कि उस ओर से भी किसी के

अन्दर मेरे लिए प्रेम के अंकुर नहीं फूटे। आप सौजन्य के कारण मेरी परख को बहुत मूल्य देते हैं, इसलिए मैं आपको अपने मन की बात बताता हूँ। मुझे लगता है कि अगर मैं देश-विदेश के रीति-रिवाज और विधि-विधान जान लूँ तो मैं आपकी छोटी-सी प्रजा पर शासन करने के लिए ज़्यादा उपयुक्त हो सकूँगा। मेरी इच्छा है कि मैं एक वर्ष के लिए पृथ्वी-भ्रमण कर लूँ। सब चीज़ें देखूँ और समझूँ। इसलिए मेरा निवेदन है पिताजी, कि मुझे इस यात्रा के लिए अनुमति दे दीजिये। और कौन जाने?—शायद मैं अपनी जीवनसंगिनी को लेकर लौटूँ जिसकी सारी सुख-शान्ति, सारी सुरक्षा मैं ही हो सकूँ।"

"तुम्हारी मनोकामना समझदारी-भरी है मेरे बेटे। जाओ, पिता के आशीर्वाद तुम्हारे साथ होंगे।"

*

पश्चिम के सागर में एक छोटा-सा टापू है जिसकी निधि हैं उसके वन।

गर्मियों का एक सुहावना दिन है। एक युवती विशाल वृक्षों की छाया तले धीरे-धीरे चली जा रही है। उसका नाम है लिआन। वह सभी युवतियों से बढ़ कर सुन्दर है। उसका लचीला शरीर हलके कपड़ों में मनोहर रूप से लहरा रहा है। उसका हलके रंग का चेहरा लालिमा के कारण और अधिक गोरा लगता है। उसके घने बालों का जूड़ा अपने चमकते सुनहरे रंग के कारण और भी चमकदार हो उठा है। ऐसा लगता है कि उसकी आँखें मानों असीम नील गगन में खुलने वाले दो द्वार हैं जो उसके चेहरे को एक बौद्धिक आभा से चमका रहे हैं।

लिआन अनाथ और जीवन में एकदम एकाकी है, लेकिन उसके अनुपम सौन्दर्य और विरल बुद्धि ने बहुतों की वासना और सच्चे प्रेम को आकर्षित किया है। लेकिन उसने अपने स्वप्न में एक पुरुष को देखा है, एक ऐसे पुरुष को जो अपनी वेश-भूषा से किसी दूर देश का मालूम होता था। उस अनजाने व्यक्ति की मधुर, गम्भीर दृष्टि ने लड़की के हृदय को जीत लिया, और अब वह किसी और से प्रेम नहीं कर सकती। वह तभी से आशा कर रही है, प्रतीक्षा कर रही है और जो भव्य चेहरा उस रात देखा था, उन्मुक्त भाव से उसके सपने लेने के उद्देश्य से ही वह इन ऊँचे-ऊँचे पेड़ों

के बीच इस तरह एकान्त में घूमा करती है।

प्रखर सूर्यालोक घने पत्तों में से छन कर नहीं आ सकता, चलने वाले पगों के नीचे की काई पर सिलवटें तो पैदा होती हैं पर कोई आवाज़ नहीं होती। चारों ओर दुपहरी की गर्मी से भारी नींद में अलसाया-सा वातावरण है; लेकिन फिर भी उसे हलकी-सी बेचैनी होती है मानों अदृश्य सत्ताएँ आस-पास के जंगलों में छिपी हैं और सजग आँखें पेड़ों के पीछे से झाँक रही हैं।

अचानक किसी पक्षी का स्पष्ट और आनन्दमय गान फूट पड़ता है और सारी बेचैनी लुप्त हो जाती है। लिआन जानती है कि वन मित्र है और अगर उसके वृक्षों के अन्दर कुछ सत्ताएँ रहती हैं तो वे उसका बुरा नहीं चाह सकतीं। उसके अन्दर एक महान् मधुर भाव उमड़ आता है और सब कुछ अच्छा और सुन्दर लगने लगता है। उसकी आँखें भर आती हैं। अपने अजाने प्रेमी के बारे में उसकी आशा कभी इतनी तीव्र नहीं हुई थी। उसे लग रहा था कि हवा में काँपते वृक्ष, पैरों के नीचे चरमराती हरियाली और मधुर गान गाते हुए पक्षी, सभी 'उसकी' बात कर रहे हैं जिसकी वह प्रतीक्षा कर रही है। इस विचार से ही कि शायद वह उससे मिलने ही वाली है, वह काँपती हुई रुक गयी। हृदय की धड़कनों को सँभालने के लिए उसने छाती पर हाथ रख लिया और उत्कृष्ट भावनाओं का पूरा रसास्वादन करने के लिए आँखें बन्द कर लीं। संवेदन अधिकाधिक तीव्र हो चला। वह इतना यथार्थ है कि लिआन को लग रहा है ज़रूर कोई है। वह आँखें खोलती है। ओह! आश्चर्यों का आश्चर्य! वह खड़ा है। सचमुच वही है, ठीक वैसा ही जैसा उसने अपने स्वप्न में देखा था... साधारणतः पुरुष जैसे होते हैं उससे बहुत अधिक सुन्दर।—वह मेओथा ही था।

एक ही चितवन में दोनों एक-दूसरे को पहचान लेते हैं; एक चितवन में ही वे चिर प्रतीक्षा की और पुनर्मिलन के परमानन्द की बातें कह लेते हैं; क्योंकि दोनों सुदूर अतीत में एक-दूसरे को जानते थे और अब वे उसके बारे में निश्चित हो गये हैं।

वह उसके बढ़े हुए हाथ में अपना हाथ पिरोती है और दोनों लिये-दिये विचारों से भरी नीरवता में जंगल पार करते हैं। उनके सामने आनन्द-विभोर सूर्य के नीचे शान्त, हरित् समुद्र फैला हुआ है। समुद्र के किनारे

एक बड़ा जहाज़ डोल रहा है।

विनीत, विश्वासपूर्ण, लिआन मेओथा के पीछे-पीछे उस नौका में चढ़ती है जो उनके लिए प्रतीक्षा कर रही थी और रेत पर आ लगी है। दो मज़बूत चप्पू चलाने वाले उसे तेज़ी से समुद्र में खींच कर जहाज़ के पास खड़ा कर देते हैं।

जब छोटा-सा टापू क्षितिज में नज़रों से ओझल होने लगता है तो युवती अपने साथी से कहती है :

"मैं तुम्हारे लिए प्रतीक्षा करती रही, अब तुम आ गये हो, मैं बिना ननुनच के तुम्हारे पीछे हो ली। हम एक-दूसरे के लिए बने हैं। मैं यह अनुभव करती हूँ, मैं जानती हूँ। और मैं यह भी जानती हूँ कि अब, और हमेशा के लिए तुम मेरा सुख और मेरी सुरक्षा होओगे। लेकिन मैंने अपने जन्म-स्थान, इस टापू से और इसके सुन्दर वनों से प्रेम किया है और मैं यह जानना चाहूँगी कि तुम मुझे किस समुद्र-तट की ओर लिये जा रहे हो।"

"मैं तुम्हें सारी दुनिया में खोजता फिरा हूँ और अब जब कि तुम मुझे मिल गयी हो तो बिना कुछ पूछे-ताछे मैंने तुम्हारा हाथ थाम लिया है, तुम्हारी चितवन में ही मैंने यह पढ़ लिया है कि तुम मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं। इस क्षण से और हमेशा के लिए मेरी प्रियतमा ही मेरी सब कुछ होगी; और अगर मैंने उससे वनों से भरा छोटा-सा टापू छुड़वाया है तो इसलिए कि उसे साम्राज्ञी बना कर उसके अपने राज्य में पहुँचा दूँ जो इस धरती पर एकमात्र ऐसा स्थान है जहाँ सामञ्जस्य है, वही एकमात्र देश है जो 'उसके' योग्य है।"

अक्तूबर १९०६ —'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ९-१४

मानव-गुरु कान में पवित्र मन्त्र धीमे-से फुसफुसाते हैं,
दिव्य गुरु आत्मा में प्राण फूँकते हैं।
मानव-गुरु कान में मन्त्र देते हैं,
दिव्य-गुरु हृदय-पटल पर उसकी मुहर लगाते हैं।

—श्रीरामकृष्ण के वचन

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

अक्तूबर

१. खुलापन है शक्ति और प्रभाव को ग्रहण करने और प्रगति के लिए उनका उपयोग करने का संकल्प; यह है परम चेतना के साथ सम्पर्क बनाये रखने की सतत अभीप्सा, यह श्रद्धा कि शक्ति और चेतना हमेशा तुम्हारे साथ, तुम्हारे चारों ओर, तुम्हारे अन्दर हैं और बस तुम्हें इतना ही करना है कि उन्हें ग्रहण करने के रास्ते में किसी भी चीज़ को बाधक न बनने दो।

२. उस चेतना के प्रति खुलो जो तुम्हारे ऊपर और तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही है और हमेशा यथासम्भव अचञ्चल और शान्त रहो।

३. चेतना में अधिक ऊँचे उठो, अधिक विशालता के साथ प्रेम करो, प्रकाश के प्रति खुलो—सभी भिन्नताएँ विलीन हो जायेंगी। योग करने के लिए तुम्हें संसार के जितना विशाल और व्यापक होना चाहिये।

४. मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है, तो अगर तुम उसे अनुभव न करो तो इसका अर्थ है कि तुम उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो। यह तुम्हारी ग्रहणशीलता की कमी है और ग्रहणशीलता को बढ़ना चाहिये, इसके लिए तुम्हें अपने-आपको खोलना चाहिये और तुम अपने-आपको तभी खोलते हो जब **अपने-आपको** देते हो।

५. संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरन्तर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये। फिर जो कुछ चरितार्थ करना है उसे चरितार्थ करने के लिए वर्षों लगाने के बदले हम उसे कुछ ही महीनों में चरितार्थ कर लेंगे, कभी-कभी कुछ दिनों में भी कर सकेंगे।

६. जो गुण तुम्हें आध्यात्मिक जीवन-यापन करने का अधिकारी बनाते हैं वे हैं, आन्तरिक सन्तुलन, अपने कर्म में सन्तुलन बनाये रखना और प्रत्येक विषय में संयत होना, सच्चा, ईमानदार, सत्यनिष्ठ होना।

७. अपने प्रति और अपने लक्ष्य के प्रति सच्चा होना, अव्यवस्थित आवेगों के द्वारा परिचालित न होना, परिवर्तनशील बाह्य रूपों को ही सद्वस्तु न मान बैठना आदि वे गुण हैं जो अध्यात्म-पथ पर प्रगति करने की

इच्छा रखने वाले मनुष्य में अवश्य होने चाहियें।

८. अगर हम ध्यान दें तो हमारे चारों ओर जो लोग हैं उनमें से हर एक हमारे लिए दर्पण हो सकता है जिसमें हमारे एक या अनेक पहलू प्रतिबिम्बित होते हैं। अगर हम उससे लाभ उठाना जानें तो वह हमारी प्रगति के लिए प्रबल सहायक हो सकता है। और जब दर्पण सच्चा, निष्कपट और सद्भावनापूर्ण हो तो सहायता का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

९. औरों की सहायता करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है, अपने-आपको रूपान्तरित करना। तुम पूर्ण बनो तो तुम संसार में पूर्णता लाने की स्थिति में होगे।

१०. दुनिया को बचाने के लिए अपनी चेतना को बदलो।

११. औरों की मनोदशाओं और सनकों को अपने ऊपर प्रभाव न डालने देने में तुम बिलकुल ठीक हो। तुम्हें हमेशा इन सब चीज़ों से ऊपर भगवान् की 'उपस्थिति', 'प्रेम' और उनके 'रक्षण' की अनुभूति में उठना चाहिये।

१२. तुम इसलिए परेशान हो क्योंकि अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ सुनने की जगह तुमने गँवारू मनों और अँधेरी चेतनाओं के सुझाव को स्वीकार कर लिया है जो हर जगह कुरूपता और अशुद्धि ही देखती हैं, क्योंकि वे चैत्य शुद्धि के सम्पर्क में नहीं होतीं।

१३. जब तुम अपने-आपको किसी निःस्वार्थ लक्ष्य को चरितार्थ करने के लिए अर्पित करते हो तो यह आशा कभी न करो कि सामान्य लोग तुम्हारी प्रशंसा या तुम्हारा समर्थन करेंगे। इसके विपरीत, वे हमेशा तुम्हारे विरुद्ध लड़ेंगे, तुमसे घृणा करेंगे और तुम्हें बुरा-भला कहेंगे। लेकिन भगवान् तुम्हारे साथ हैं।

१४. और लोग क्या करते हैं, इससे अपने-आपको व्यथित न करो, यह बात जितनी बार कही जाये कम है। मूल्यांकन न करो, आलोचना न करो, तुलना न करो, यह तुम्हारा काम नहीं है।

१५. तुम्हें काम भगवान् के प्रति अर्घ्य के रूप में करना चाहिये और उसे अपनी 'साधना' का अंग मानना चाहिये। उस भाव के साथ काम के स्वरूप का कोई महत्त्व नहीं और तुम आन्तरिक उपस्थिति का

सम्पर्क खोये बिना कोई भी काम कर सकते हो।

१६. तुम ऐसे दोषों की शिकायत करते हो जिन्हें ठीक नहीं किया जा सकता; यह ग़लत है। अगर तुम **अपने-आपको ठीक करने के लिए** काम करो तो किसी भी दोष को ठीक किया जा सकता है। जो प्रगति करनी है उससे भाग निकलना भीरुता है और मैं उसे स्वीकृति नहीं दे सकती। सबसे पहले, जो गलतियां की गयी हैं उन्हें सच्चाई के साथ पूरी तरह स्वीकार करो।

१७. अच्छे काम के लिए सहयोग और परस्पर सद्भावना अनिवार्य हैं।

१८. अगर कोई अपनी पसन्दों से अछूते रूप में, हर चीज़ को व्यक्तिगत प्रश्न बनाये बिना भलाई को देखने में सक्षम हो तो अधिकतर कठिनाइयाँ हल हो जायेंगी।

१९. अगर लोग काम को **हमारा काम** कहना छोड़ सकें तो बहुत-सी कठिनाइयों का अन्त आ जायेगा। यहाँ सभी काम भगवान् का है।

२०. थके बिना काम करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि चाहे जो भी काम हो उसे भगवान् के अर्पण कर दो और तुम्हें जिस सहारे की ज़रूरत है उसे भगवान् में ही पाओ, क्योंकि भगवान् की शक्ति अपार है और 'उन्हें' जो कुछ भी सच्चाई के साथ अर्पित किया जाये 'वे' हमेशा उसका उत्तर देते हैं।

२१. भगवान् ऐसी सत्ता नहीं हैं जो विश्व को रचती और उस पर शासन करती हो, बल्कि वे स्वयं विश्व और इसके अतिरिक्त वह सब भी हैं जो कालातीत और देशातीत है।

२२. विरोधी शक्तियों के आक्रमण के सामने जहाँ तक सम्भव हो शान्त और स्थिर रहो। यदि आक्रमण विरोधी सुझावों का रूप ले तो उसे शान्ति के साथ ठीक उसी तरह दूर फेंकने की कोशिश करो जैसे किसी भौतिक पदार्थ को फेंका जाता है। तुम जितने अधिक शान्त रहोगे उतने ही अधिक शक्तिशाली बनोगे। सभी आध्यात्मिक शक्तियों का सुदृढ़ आधार है समचित्तता। किसी चीज़ को अपना सन्तुलन न बिगाड़ने दो, तब तुम हर प्रकार के आक्रमण का प्रतिरोध कर सकोगे।

२३. अपने-आपको दृढ़ बनाये रखो, श्रद्धा तथा विश्वास के साथ भगवान् को पुकारो। यदि तुम्हारी अभीप्सा शुद्ध और स्थिर है तो तुम अवश्य

सहायता प्राप्त करोगे।

प्रभु से कहो—मैं समस्त अहंकारमय दुर्बलताओं और समस्त अचेतन कपट-कुटिलताओं से मुक्त किये जाने के लिए अभीप्सा करता हूँ।

२४. वास्तव में समस्त जीवन प्रेम है, यदि हम जीना जानते हों।

२५. अगर तुम्हें काम नापसन्द है तो तुम जीवन में हमेशा दुःखी रहोगे। मेरे प्रिय बच्चो, काम पसन्द करो और तुम सुखी रहोगे। सीखना पसन्द करो, और तुम प्रगति करोगे।

२६. साधारण औसत दर्जे के कार्य का कारण न तो विविधता होती है न ही कार्यों की अधिकता, कारण होता है एकाग्रता की शक्ति का अभाव। व्यक्ति को एकाग्र होना सीखना चाहिये और उसे सभी कार्य पूर्ण एकाग्रता के साथ करने चाहियें।

२७. प्र—मन में वाद-विवाद को कैसे रोका जाये?

उ—पहली शर्त है, जितना हो सके उतना कम बोलो।

दूसरी शर्त है, केवल उसी चीज़ के बारे में सोचो जो तुम इस समय कर रहे हो, उसके बारे में मत सोचो जो तुम्हें करना है या जो तुम कर चुके हो। जो हो चुका है उसके लिए कभी न पछताओ और जो होने वाला है उसकी कल्पना न करो। जहाँ तक बन पड़े अपने विचारों में निराशा को रोको और स्वेच्छापूर्वक आशावादी बनो।

२८. यह न कहो कि मैं तो ऐसा ही हूँ, और तरह का नहीं हो सकता, क्योंकि यह ठीक नहीं है। तुम ऐसे इसलिए हो क्योंकि तुम्हें इससे उलटा बनना है। सब कठिनाइयाँ इसीलिए हैं ताकि तुम उन्हें उस सत्य में बदलना सीखो जिसे वे छिपाये हुए हैं।

२९. उत्तरोत्तर सामञ्जस्य की स्थापना में जो मुख्य बाधाएँ हैं उनमें से एक है, अपने विरोधी के आगे यह सिद्ध करने की आतुरता कि वह ग़लत है और हम ठीक हैं।

३०. अनुशासन के बिना कोई अच्छा काम नहीं हो सकता।

हर एक अपने-अपने स्थान पर, ईमानदारी के साथ अपना नियत काम करे तो सब कुछ ठीक होगा।

३१. यदि तुम्हारे अन्दर दोष और दुर्बलताएँ हैं तो उन्हें परिवर्तित करने या नष्ट कर देने के लिए भगवान् के सम्मुख रखो।

'श्रीअरविन्द का पूर्णयोग'

हमारी वसुधा ही नन्दनकानन बन जाये

(गतांक से आगे)

श्रीअरविन्द क्या थे, विकल विश्व की तप्त छाती पर शाश्वत सुख-शान्ति की मन्दाकिनी बहाने के लिए वे क्या कर रहे थे यह दुनिया को अभी जानना बाक़ी है। वे अपने असीम पुरुषार्थ और दीर्घ तपस्या द्वारा जिस स्तर पर पहुँचे थे उसकी हमलोग मन-बुद्धि द्वारा कल्पना भी नहीं कर सकते। इतनी बड़ी शक्ति प्राप्त करके और इतने ऊँचे उठ कर उन्होंने स्वयं को किस तरह मानव स्तर पर रखा था यह एक महान् आश्चर्य है! संसार के कोने-कोने से शोक, सन्ताप, दुःख, द्वन्द्व इत्यादि को दूर करने के लिए यह उनका एक अपूर्व त्याग था।

एक बार उन्होंने अपने एक प्रिय शिष्य से कहा था, "मेरी स्वयं एक समय इच्छा होती थी कि योग-बल से सारे जगत् को एक क्षण में बदल डालूँ—जगत् में जो कुछ बुरा है, जो कुछ शोचनीय है उसे एक मुहूर्त में ही अपने साधन-बल से दूर कर दूँ। किन्तु पॉण्डिचेरी आने के कुछ दिन बाद ही मेरी यह धारणा बदल गयी। केवल अपने ही अमृत-लोक में पहुँचने से काम नहीं चलेगा, विश्व-मानव को भी अमृतत्त्व प्राप्त करने के योग्य बनाना होगा और उसके लिए काल भी अनुकूल होना चाहिये। असली समस्या बस यही है।"

मनुष्य नाना प्रकार की साधना द्वारा, मन से ऊर्ध्वतर, ऊर्ध्वतम शक्ति को उतार कर जीवन में ढालने का युग-युग से प्रयत्न करता आ रहा है पर उसे स्थायी रूप से जड़-जगत् में अवतीर्ण नहीं कर पाता। हम देखते हैं कि बड़े-बड़े धार्मिक योद्धा, नरकेसरी आते हैं और चले जाते हैं, पर काली कमलिया-सी दुनिया पर कोई पक्का रंग नहीं चढ़ता, उसका पुराना ढंग नहीं बदलता। जब तक वे भूतल पर रहते हैं, ऊर्ध्व की कुछ किरणें अपने अन्दर उतार कर दुनिया को दिव्य-शान्ति, दिव्यानन्द का रसास्वादन कराते हैं, पर उनके तिरोहित होने के बाद ही अज्ञान के काले-काले बादल फिर गरजने लगते हैं।

इसलिए श्रीअरविन्द पृथ्वी पर एक ऐसी ज्योति उतारना चाहते थे जिससे लोगों को एक नयी दृष्टि मिले, पृथ्वी पर एक नयी धारा बहे, एक नयी चेतना की प्रतिष्ठा हो। जो प्रकाश-पथ पर चलना चाहते हैं, वे उत्तरोत्तर बढ़ते चलें, पद-पद पर जिस प्रकार आज उन्हें निशि-पुत्रों से तिल-तिल भूमि के लिए जूझना पड़ता है, काँटों में वर्षों उलझे रहना पड़ता है, ऐसी अवस्था नहीं रहे। उनका कहना है कि यह तभी हो सकता है जब विज्ञान-ज्योति का, जिसे उन्होंने अतिमानस (Supermind) नाम दिया है, अवतरण हो।

यह वह लोक है जहाँ अतृप्ति का आभास नहीं, राग-द्वेष की बू नहीं, रोग-शोक की छाया नहीं और भूल-भ्रान्ति का लवलेश नहीं। यह वह प्रदेश है जहाँ सत्य का सूरज डूबता नहीं, नित्य सुख का मलय पवन कभी रुकता नहीं, अमृत की झड़ी कभी थमती नहीं, शान्ति का झरना कभी सूखता नहीं और आत्मा के आनन्द का प्रवाह कभी कम नहीं होता। यह लोक हमारी तमोग्रस्त अविद्या और अतृप्ति के मनोजगत् के ऊपर अवस्थित है। ऊर्ध्व मन, प्रबुद्ध मन आदि इसकी पहली भूमिकाएँ हैं। इसका उतरना तभी सम्भव हो सकता है जब इसके लिए क्षेत्र तैयार हो। इस क्षेत्र को तैयार करने में श्रीअरविन्द की सारी शक्ति लगी थी।

अब तुलनात्मक रूप से यह देखना है कि अन्य योगों की अपेक्षा पूर्णयोग की सिद्धि में कहाँ क्या अन्तर है?

प्राचीन योगों का लक्ष्य था, दुनिया के झंझटों से पिण्ड छुड़ा कर निकल भागना और मन-प्राणों के तूफ़ानों को शान्त कर इतने ऊँचे उठ जाना कि दिव्य लोक के दिव्यानन्द में निमग्न रहा जा सके। ऐसी स्थिति प्राप्त करना कि दुनिया को डंक मारने का अवसर ही न मिले।

पूर्णयोग भी हमें उन आदर्शों के शिखरों पर पहुँचाना चाहता है; पुरुष को हमें भी प्राप्त करना होगा, परन्तु लीलामयी प्रकृति को तिलाञ्जलि देकर नहीं। वह उसे भी मुक्त करके पुरुष के संग युक्त करना चाहता है। जब हम स्वर्ग के नन्दन में पहुँचें तभी पारिजात हमारे हाथ लगे ऐसी बात नहीं, हमें ऐसी अवस्था प्राप्त करनी होगी कि पारिजात हमें यहीं प्राप्त हो; हमारी वसुन्धरा ही नन्दनकानन बन जाये।

पुराने पथ के पथिक लक्ष्य पर पहुँचने के लिए पृथ्वी को साधनभूमि मानते थे। सिद्धि प्राप्त कर लेने पर दुनिया के पचड़ों में पड़े रहने से क्या

लाभ? देह, प्राण, मन-रूपी कँटीली डालों पर जब सिद्धि का गुलाब खिल चुका तब उन कण्टकों में उलझे रहने से क्या मतलब? किन्तु पूर्णयोग, जीवनव्यापी साधना करके, उन कण्टकों को भी कुसुमित करना चाहता है जिससे उनके सौरभ से हमारा जीवन ही नहीं, विश्व का समीरण भी भर जाये। वह हमें ऐसी सञ्जीवनी बूटी प्राप्त कराना चाहता है कि दुनिया के डंक का हम पर कोई असर ही न हो।

एक शब्द में प्राचीन योगों का लक्ष्य था मोक्ष, और पूर्णयोग का लक्ष्य है देवजन्म। जहाँ पूर्वकाल के योगी येन केन प्रकारेण किसी एक अंग-विशेष को शुद्ध-बुद्ध कर अपने लक्ष्य पर पहुँचना चाहते थे वहाँ पूर्णयोग का ध्येय किसी अंग-विशेष को नहीं, बल्कि मनुष्य के समस्त जीवन को साधना का क्षेत्र बनाना है। पृथ्वी साधनभूमि ही नहीं, सिद्धि का भी क्षेत्र है। पूर्णयोग मानव-चेतना को विकसित और विस्तृत करके भगवान् के अन्दर उठा ले जाना चाहता है और फिर वहाँ से दिव्य-भावापन्न बना कर नीचे उतरता है जिससे सारा जीवन ही योग हो जाये—मानव-मन्दिर की एक-एक कोठरी आत्मा की ज्योति से उद्भासित हो उठे। अब उसके मन, प्राण और शरीर उसके नहीं रह जाते। भगवान् ही उसके मुख से बोलते हैं, मन से सोचते हैं और हाथों से काम करते हैं, श्वास-प्रश्वास लेते हैं। वह भगवान् को अपने अन्दर और भगवान् के अन्दर अपने को, संसार को अपने अन्दर और संसार के अन्दर अपने को देखता है। दूसरे योगों के साधकों की भाँति उसे अपनी सत्ता को, अपने व्यक्तित्व को विराट् में लय करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। जो भगवान् एक में हैं, विश्व में हैं और विश्व के परे हैं—उन्हें यहीं—इसी शरीर से, इसी पार्थिव जगत् में वह प्राप्त कर लेता है और यही है पूर्णयोग की विशेषता।

ऐसी अवस्था सहज ही प्राप्त नहीं हो सकती। इसके तीन सोपान हैं। पहला है चैत्यसिद्धि। पूर्णयोग की साधना में चैत्य पुरुष को जो स्थान प्राप्त है वह इसके स्वर्णद्वार खोलने की ज्योति-कुञ्जिका कहा जा सकता है। जब तक चैत्य पुरुष सामने नहीं आता, साधना में खुल कर भाग नहीं लेता, तब तक बेचारे साधक की तुलना उस कठपुतले-जैसे राजा से की जा सकती है जिसका राज्य में कोई अधिकार नहीं। राज्य का सारा भार उसके मन्त्रियों पर है, वे जो चाहें करें। उसका काम केवल देखते जाना

है। वह कभी कुछ परामर्श दे सकता है पर मन्त्रिगण उसकी बात मानें या अवहेलना कर दें, उनकी मौज है। ये उस पत्थर के समान हैं जिसे सौ बार चाशनी में डुबोओ, हज़ार बार डुबोओ, पर उसमें कोई मिठास नहीं आती, उसके जड़ स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं हो पाता। और यही कारण है कि उन्हें ध्यान-धारणा में कोई रस नहीं मिलता।

जब तक चैत्य पुरुष (Psychic) उद्‌बुद्ध और उन्नत नहीं होता, निम्न प्रकृति की ग़ुलामी से हम छुट्टी नहीं पा सकते। जब वह जागता है और शासन की बागडोर अपने हाथों में ले लेता है तब मन्त्रिगण मनमानी नहीं कर सकते। काम-वासना जो हमारे अन्दर भूखे कुत्ते की तरह भूँकती थी, क्रोध जो दुष्ट सर्पों की तरह काटता था, वे अब कुछ नहीं कर पाते। लोभ-मोह के अब हम क्रीतदास नहीं रह जाते। हमारे अन्दर जो महाभारत युद्ध चला करता था वह सदा के लिए बन्द हो जाता है। मन, प्राण—जो कभी पत्थर-जैसे थे—नवनीत-जैसे हो जाते हैं और प्रेमरूपी चाशनी में डुबोते ही रस से भर जाते हैं।

साधारण स्तर के लोग कहेंगे, जब यह हो गया तब और क्या चाहिये? हमारे अन्तर्जगत् में रामराज्य स्थापित हो गया तो बाक़ी क्या रहा?

किन्तु पूर्णयोग के लिए यह सिद्धि का पहला क़दम है। कहा है, जहाँ अन्य योगों की सिद्धि पूर्ण होती है वहाँ पूर्णयोग की सिद्धि आरम्भ होती है। दूसरा सोपान है अध्यात्म-सिद्धि। चैत्य-सिद्धि और अध्यात्म-सिद्धि में अन्तर है। चैत्य-सिद्धि के द्वारा भगवान् के प्रेम से, माधुर्य से हमारा हृदय भर जाता है, हम सदा छके रहते हैं। भगवान्, जो कभी बहुत दूर दिखायी देते थे, अति निकट आ जाते हैं और अपने से अधिक आत्मीय लगने लगते हैं। चिरदग्ध हृदय एक सखा, एक सुहृद् और सहायक पाता है। भगवान् के साथ हमारा एक अत्यन्त मधुर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

आध्यात्मिक सिद्धि से हमारी चेतना ऊर्ध्व की ओर उन्मुख होती है। उस विराट् से, भूमा से, हमारा सम्बन्ध स्थापित होता है। यह प्रारम्भिक अवस्था है। इसमें बहुत दिनों तक उतार-चढ़ाव आता रहता है। कभी तो हमारी चेतना अध्यात्म-अनुभूति की चरम चोटी पर जा पहुँचती है और कभी हम अवचेतना (Subconscience) की खाई में जा गिरते हैं। उस समय एक-एक पल एक-एक युग-सा कटता है। पूर्ण सिद्धि तो तब प्राप्त

होती है जब उस विराट् के साथ हम एकात्म-लाभ करते हैं। हम उसे विश्वेश्वर, विश्वाधार के रूप में ही नहीं, विश्वमय, विश्वव्यापी के रूप में भी उपलब्ध करते हैं। 'हममें, तुममें, खड्गखम्भ में' तब हमें वही नज़र आता है। हमारा मन गतसन्देह और प्राण द्वन्द्वातीत हो जाता है। हमारे अन्दर ज्योति का पारावार उमड़ने लगता है, आठों पहर अमृत-झड़ी लग जाती है। सब कुछ मधुमय हो जाता है। सब वृक्ष कल्पतरु-से, समस्त वन नन्दनकानन-से, सारी पृथ्वी एक उत्सव-मन्दिर-सी हो जाती है। उस मन्दिर में सच्चिदानन्द अपने पूर्ण ऐश्वर्य के साथ आकर विराजमान हो जाते हैं और यही होती है हमारी सहज स्थिति।

यही हमारी साधना का अन्तिम सोपान नहीं है। पूर्णयोग की सिद्धि का तीसरा क़दम है अतिमानसिक सिद्धि (Supramentalisation)। अब तक हम अन्तर और ऊर्ध्व लोकों के ऐश्वर्य से समृद्ध तो हुए हैं पर यह नहीं कहा जा सकता कि इनसे हमारा बाह्य पूर्ण रूप से समृद्ध हो गया है—ये हमारे जड़-जगत् की चीज़ हो गये हैं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जब हम अपनी उस उच्चावस्था में रहते हैं तभी हमें इनकी पूर्ण उपलब्धि होती है; प्रकृति के निम्न स्तर में उतरने पर इनका वही रूप नहीं रह पाता। इससे प्रत्यक्ष है कि निम्न प्रकृति पर ये लादे गये हैं, उनका मूल स्वभाव नहीं बदला है। लोहे पर सोने का मुलम्मा चढ़ जाने से उसने सोने का रूप धारण किया है, वह 'रोल्ड गोल्ड' है, सच्चा सोना नहीं बन पाया, उसमें अभी देर है। यही कारण है कि वैदिक युग में भी बड़े-बड़े योगी निम्न प्रकृति के सतरंगे जालों में फँस कर अपनी चेतना की चरम चोटी से कभी-कभी च्युत हो जाया करते थे। अतिमानस ही हमें सच्चा सोना बना सकता है, फिर चाहे हम तम के सागर में कूदें या कोयले की खानों में उतरें, हम सोना ही रहेंगे। यही है पूर्णयोग की चरम सिद्धि।

(क्रमशः) —स्व. नारायण प्रसाद 'बिन्दु'

हे मेरे प्रभु!
चाह नहीं मेरी कि पूरा पथ जान सकूँ।
दीजिये प्रकाश इतना कि हर अगला क़दम पहचान सकूँ।

—अज्ञात

एक साधिका के नाम पत्र

जिसे सामान्यतः निष्ठा कहा जाता है वह है, सतर्कता के साथ अपने दिये हुए वचनों को निभाना। लेकिन एकमात्र सच्ची दृढ़ निष्ठा है, भगवान् के प्रति निष्ठा—और हम सबको सच्चे और अविच्छिन्न प्रयास के साथ इसी निष्ठा को पाना चाहिये।

जब सारी सत्ता, अपने सभी भागों और सभी क्रियाओं में समस्त सच्चाई के साथ कह सके :

"तुम जो चाहो, तुम जो चाहो",

तब तुम सच्ची निष्ठा के मार्ग पर होते हो।

१७ फ़रवरी १९७२

धरती पर जीवन तत्त्वतः प्रगति का क्षेत्र है, लेकिन जो कुछ प्रगति करनी है उसके लिए जीवन कितना छोटा है!

अपनी तुच्छ कामनाओं को सन्तुष्ट करने में अपना समय बरबाद करना निरी मूर्खता है। सच्चा सुख तभी मिल सकता है जब तुम भगवान् को पा लो।

१९ फ़रवरी १९७२

परम प्रभो! ऐसी पूर्णता जो हमें बनना है, ऐसी पूर्णता जिसे हमें अभिव्यक्त करना है।

यह शरीर तुम्हारे द्वारा ही जीवित है और बारम्बार तुमसे कहता है :

"जो तुम चाहो, जो तुम चाहो"

उस दिन तक जब वह स्वतः ही जान सकेगा कि तुम्हारी इच्छा क्या है क्योंकि उसकी इच्छा पूरी तरह तुम्हारी इच्छा के साथ एक होगी।

२३ फ़रवरी १९७२

प्रभो! हम अनुभव करते हैं कि हमारे अन्दर कोई भी चीज़ तुम्हारी उपस्थिति को अस्वीकार न करे और हम वही बन सकें जो तुम हमें बनाना चाहते हो; वर दो कि हमारे अन्दर सब कुछ तुम्हारी इच्छा का अनुमोदन करे।

१२ मार्च १९७२

प्रभो, हमें अपने चिन्तन की नीरवता प्रदान करो, ऐसी नीरवता जो तुम्हारी प्रभावी उपस्थिति से भरपूर हो।

१३ मार्च १९७२

वर दो कि हमारी नीरवता तुम्हारी उपस्थिति से भर जाये और हम उसके बारे में पूरी तरह सचेतन हों।

वर दो कि हम जान सकें कि तुम ही हमारा जीवन हो, हमारी चेतना और हमारी सत्ता हो, और तुम्हारे बिना सब कुछ भ्रान्ति है।

१४ मार्च १९७२

वर दो कि हम तुम्हारी शाश्वत चेतना के साथ एकात्म हो सकें ताकि हम सचमुच जान सकें कि अमरता क्या है।

१६ मार्च १९७२

अमरता की तैयारी के लिए शरीर की चेतना को अपने-आपको पहले शाश्वत चेतना के साथ एकात्म करना चाहिये।

१७ मार्च १९७२

जिस सत्य को जानने के लिए मनुष्य ने व्यर्थ की खोज की है वह नयी जाति का, कल की जाति का, अतिमानव का जन्मसिद्ध अधिकार होगा।

सत्य के अनुसार जीना उसका जन्मसिद्ध अधिकार होगा।

आओ, हम 'नयी सत्ता' के आने की तैयारी के लिए अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करें। मन को निश्चल-नीरव होना चाहिये, उसका स्थान सत्य चेतना—ब्योरों की चेतना के साथ समस्वर समग्र की चेतना—ले ले।

१९ मार्च १९७२

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४८८-९०

एक पन्द्रह वर्ष की लड़की ने पूछा, " 'सत्य' क्या है?"

मैंने उत्तर दिया, "परम प्रभु की इच्छा।"

यह चिन्तनात्मक ध्यान के लिए विषय है। —*श्रीमाँ*

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

सचेतन बनने की विभिन्न विधियाँ

योग द्वारा सच्चाई, श्रद्धा तथा अन्य गुण विकसित किये जा सकते हैं। अगर तुम कहो—"बहरहाल, मैं मरने वाला तो हूँ ही फिर भगवान् पर श्रद्धा क्यों न रखूँ, उनके प्रति समर्पण करके दिव्य शरीर में दिव्य जीवन के लिए प्रार्थना क्यों न करूँ? तब अगर मैं मर भी जाऊँ तो कोई हर्ज़ नहीं, मैं अपने-आपको बड़े-से-बड़े गुरु, सबसे बड़े चिकित्सक, स्वयं परम प्रभु के हाथों में सौंप दूँगा, फिर भी यदि कोई चीज़ ग़लत हो जाये तो मैं किसलिए चिन्ता करूँ?" अगर तुम्हारी यह मनोवृत्ति हो तो मैं तुमको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि तुम्हारे अन्दर पूरी श्रद्धा न भी हो फिर भी तुम यह बड़ा ख़तरा ले सकते हो—जो सचमुच ख़तरा नहीं है—तो कोई भी चीज़ ग़लत न होगी। हम अभी जो जीवन जी रहे हैं वह अस्तव्यस्तता और अज्ञान का, एक शब्द में कहें तो मूढ़ता का जीवन है। यह कोई समाधान नहीं है। हम अपना निन्यानबे प्रतिशत समय समाचार-पत्र पढ़ने, संसदीय बहस करने और व्यापार में गुज़ारते हैं। यह सब अपव्यय है, यह हमारी आदत बन गयी है कि हम अपने-आपको उच्चतर जीवन के लिए तैयार करने का कष्ट नहीं उठाते और इस तरह के अपव्यय के सामने झुक जाते हैं।

अब हम समर्पण की बात लें। समर्पण के बिना कोई लाभ नहीं होता, समर्पण के बिना भगवान् के साथ ऐक्य नहीं होता और समर्पण के बिना तुम भगवान् की आवाज़ नहीं सुन पाते और उनके मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते क्योंकि प्रकृति की निचली शक्तियाँ इतनी मज़बूत होती हैं कि वे तुमको नीचे घसीट लेती हैं। इस कार्यक्रम में सफल होने के लिए तुमको अपने प्रयास में अनवरत और निष्ठुर होना होगा। यहाँ मैं एक सुझाव दे सकता हूँ जिसका मैंने वर्षों पहले प्रयोग किया था और मैंने उसे सफल पाया। अपनी एक दैनिक सूची बना लो जिसमें वे सब गुण हों जिन्हें तुम अपने अन्दर पैदा करना चाहते हो—जैसे सच्चाई, अभीप्सा, भगवान् का सतत स्मरण, भगवान् के लिए कर्म, चुपचाप भोजन—इसमें हम सभी चीज़ों को ले सकते हैं—इनमें वे सब चीज़ें हों जो तुम करना चाहते हो, इनमें

तुम अपने-आपको क, ख, ग आदि श्रेणियाँ दे सकते हो ताकि यह देख सको कि तुम अपने-आपको हर रोज़ किस श्रेणी में रख पाते हो। अगर तुम अपने ऊपर इस तरह नज़र रखो तो यह एक बहुत बड़ी प्रगति होगी, लेकिन इस बात में तुमको बहुत ईमानदार रहना होगा।

अब हम अपनी मुख्य बात पर आते हैं कि शरीर को कैसे सचेतन बनाया जाये, कोषाणुओं को कैसे सचेतन बनाया जाये। पहले हम ध्यान और मन्त्र-जाप को लेते हैं। अगर तुम दिव्य शरीर में दिव्य जीवन को अपना लक्ष्य मान लेते हो तो तुमको शरीर द्वारा मन्त्र-जप को अपनाना चाहिये। शरीर का हर कोषाणु 'ॐ' से स्पन्दित हो। तुमको हाड़, चाम, मांस सबमें ॐ का अनुभव करना चाहिये। ॐ की ध्वनि तुम्हारे चारों ओर ध्वनित होती रहे। अगर तुम चाहो तो कोई और नाम भी ले सकते हो—जैसे माताजी और श्रीअरविन्द का नाम। इस प्रकार की जागृति, परम मन्त्र की ओर कोषाणुओं की यह जागृति, शरीर को सचेतन बनाने में बहुत सहायक होगी।

मन्त्र-जप के साथ या उसके बिना ही तुमको श्रीअरविन्द और माताजी के ज्योतिर्मय रूप का ध्यान करना चाहिये—वह रूप जो ज्योतिर्मय तो हो पर रक्त, त्वचा और अस्थियों से हीन—तुम्हारे शरीर के हर कोषाणु में और तुम्हारे चारों ओर हो। तीसरी चीज़ है, अपने-आपको उनके अन्दर रख देना। यह ध्यान की परम्परागत विधियों में से एक है कि शिष्य गुरु के हृदय में हो और गुरु शिष्य के हृदय में। यह दोहरा ध्यान कि तुम श्रीअरविन्द के ज्योतिर्मय हृदय में हो और श्रीअरविन्द तुम्हारे हृदय में, तुमको दोहरी रक्षा प्रदान करता है। बाहरी शक्तियों और आन्तरिक संघर्षों से रक्षा—यह भगवान् के साथ ऐक्य लायेगा। तुम्हारा ध्यान सक्रिय, और जहाँ तक हो सके सामूहिक होना चाहिये। इसीलिए तुम केन्द्रों में और परिवार में भी मिल कर बैठते हो और ऐसे मित्रों के साथ मिल कर ध्यान करते हो जिनका समान आदर्श हो। माताजी ने एक बार एक कैल्डियन मान्यता के बारे में बतलाया था कि अगर बारह निष्कपट और सच्चे व्यक्ति मिल बैठें और भगवान् के लिए अभीप्सा करें तो भगवान् अवश्य प्रकट होंगे। तो सामूहिक ध्यान का भी अपना महत्त्व होता है।

हमारे कार्यक्रम में शारीरिक शिक्षा का भी बहुत महत्त्व है। शारीरिक

शिक्षा, व्यायाम आदि का उद्देश्य होना चाहिये, कोषाणुओं को सचेतन बनाना फिर चाहे वह आसन, प्राणायाम द्वारा हो या कसरतों द्वारा। उदाहरण के लिए, ताडासन द्वारा तुम परम प्रभु तक पहुँचने की कोशिश करो और फिर उस चेतना को अपने शरीर में लाने की कोशिश करो। अपने कोषाणुओं को खोल कर अपने-आपको ग्रहणशील बनाने की कोशिश करो, लेकिन कोई भी चीज़ शुरू करने से पहले ध्यान करो, अपने शरीर को शक्ति के प्रति खोलने का प्रयास करो ताकि वह तुम्हारे अन्दर क्रीड़ा कर सके, कार्य कर सके। मैंने इस उपाय को बहुत उपयोगी पाया है। मैं एक लड़के को जानता था जो टेबल-टेनिस खेला करता था और कोई अच्छा खिलाड़ी न था, लेकिन जब कभी वह खेलने से पहले ध्यान किया करता था तो जीत जाता था। अगर वह अचानक भगवान् को भूल जाता और अपने शरीर को दिव्य शक्ति की ओर न खोलता तो हार जाता था। शारीरिक व्यायाम करने वाले बहुत-से लोगों ने मुझे यह बतलाया है, उन्होंने इस विषय में लिखा भी है। एक बार मैं दूरदर्शन देख रहा था, टेनिस और गॉल्फ़ के उत्तम खिलाड़ियों के साथ बातचीत हो रही थी। आश्चर्य की बात यह है कि वे सब एक ही बात कह रहे थे कि उनके सबसे अच्छे निशाने तभी लगते थे जब वे खेल के बारे में सोचे बिना, उच्चतर शक्ति पर ध्यान लगा कर, यह सोचे बिना कि ऐसे या वैसे निशाने लगाने चाहियें, खेलते थे। योग में भी यही पहला नियम है। ज़रूरी यह है कि तुम अपना कार्यक्रम अपने-आप बनाओ, अपनी कसरतें ठीक करो और शुरू करने से पहले श्रीअरविन्द से प्रार्थना करो कि भगवन्, यह कसरत मेरे शरीर को कैसे सचेतन बना सकती है? तुममें से जो लोग नृत्य करते हैं, उनसे मैं कहूँगा, शरीर के कोषाणुओं को सचेतन बनाने के सबसे अच्छे उपायों में से एक है नृत्य। जो गाते हैं उनसे मैं कहूँगा, गाते समय गले के कोषाणुओं को खोलो ताकि वे सचेतन बन सकें। दिन का हर काम, चाहे वह कोई किताब उठाना हो या सड़क पर चलना या भोजन करना हो, सभी कामों में यह ख़याल रखा जाये कि शरीर सचेतन बने।

अब मैं काम में कर्मयोग का विषय लेता हूँ। उदाहरण के लिए, जब आप किसी से मिलते हैं तो कहते हैं, 'कहिये, क्या हाल है? आपसे मिल कर ख़ुशी हुई।' यह साधारण चलन है। साधारणतः तुम किसी मित्र से मिलते

हो तो ख़ुश होते हो, ये शब्द स्वाभाविक होते हैं, परन्तु यह योग नहीं है। तुमको क्षण-भर के लिए अपने-आपको रोक लेना चाहिये, अपने-आपको भागवत चेतना में रखना चाहिये और 'कहिये क्या हाल है' कहते समय यह अनुभव करना चाहिये कि ये शब्द उस 'चेतना' से आ रहे हैं। इस तरह बोलने से पहले कुछ रुकना, कुछ करने से पहले रुकना प्रारम्भिक स्थिति में बहुत ज़रूरी होता है। प्रगति के साथ-साथ यह स्वाभाविक हो जायेगा। कर्मयोग के लिए यह ज़रूरी है कि तुम सारे दिन सचेतन रहो, अपने दिन की योजना बना लो। माताजी ने कहा है कि यदि दिन-भर की योजना बना ली जाये—काम का समय, भोजन का समय, व्यायाम का समय, आराम का समय—तो शरीर बहुत अच्छी तरह काम करता है। अगर तुम पूर्णयोग का मार्ग अपनाना चाहो तो तुमको बहुत अधिक सच्चा और निष्कपट होना चाहिये। सच्चाई यह है कि जो भी चीज़ तुम्हारे निर्णय के विरुद्ध जाये, आदर्श के विपरीत हो, उसे हमेशा अनथक रूप से अपने मार्ग से हटा दो।
(क्रमशः) —नवजात जी

क्षण-भर के लिए भी यह विश्वास करने में न हिचकिचाओ कि श्रीअरविन्द ने परिवर्तन के जिस महान् कार्य के लिए बीड़ा उठाया है उसकी पूर्णाहुति सफलता में ही होगी। क्योंकि यह वस्तुतः एक तथ्य है : हमने जो काम हाथ में लिया है उसके बारे में सन्देह की कोई छाया भी नहीं है...। रूपान्तर होगा ही होगा : कोई चीज़ उसे नहीं रोक सकती, सर्वशक्तिमान् के आदेश को कोई विफल नहीं कर सकता। समस्त शंकाशीलता और दुर्बलता को उठा फेंको और उस महान् दिवस के आने तक कुछ समय वीरता के साथ सहन करने का निश्चय करो, यह लम्बा युद्ध चिर विजय में बदल जायेगा।

—'श्रीमातृवाणी' खण्ड १३, पृ. २२

सच्चा सुख : मन की शान्ति में

एक बूढ़ा मोची था। वह सदा अपने काम में मस्त रहता था; काम करते-करते वह मगन हो गाने भी गाया करता था। ठीक उसके सामने एक विशाल भवन में एक बड़ा सेठ रहता था। उसके पास काम करने के लिए अनेक नौकर भी लगे रहते थे। वह सेठ अक्सर सोचता था कि मैं तो लाखों की सम्पत्ति, सोने-चाँदी, ज़मीन-जायदाद का मालिक हूँ, पर मुझे कोई ख़ुशी नहीं है, न ही मैं अच्छा खाना, मिठाई, पकवान, सूखे मेवे, फल या पौष्टिक पदार्थ खा सकता हूँ; केवल सूखी रोटी और मूँग की दाल का पानी पी सकता हूँ; और मेरे सामने यह ग़रीब मोची है जो सदा मस्त रहता है। उससे पूछना चाहिये कि उसकी मस्ती और सुख का रहस्य क्या है? एक दिन सामने से जाते हुए मोची से सेठ ने पूछा—"तुम्हारे इस आनन्द का रहस्य क्या है? क्या तुम बहुत ज़्यादा कमा लेते हो?" मोची ने उत्तर दिया—"सेठ महाराज, मैं रोज़ कितना कमाता हूँ, मैंने इसका कभी हिसाब नहीं रखा। हाँ, यह मैं ज़रूर कह सकता हूँ कि मेरे खाने-पीने, रहने और कपड़े-लत्ते का काम भली प्रकार चल जाता है।" सेठ ने कहा—"अच्छा, रोज़ तुम कितना काम करते हो?" मोची ने उत्तर दिया—"अन्नदाता, मैंने कभी यह लेखा-जोखा रखा ही नहीं कि मैं कितना काम करता हूँ। सुबह से शाम तक जो भी काम आता है, उसे निपटा देता हूँ।"

मोची की बात सुन कर सेठ अपनी गद्दी पर गया। उसने सौ रुपयों की एक थैली तैयार की और उसे लाकर उस मोची को सौंप दिया और कहा—"महाराज, यह थैली लो, इसमें सौ रुपये हैं। ये वक़्त-बेवक़्त, सुख-दुःख में काम आयेंगे, इन्हें सम्भाल कर रखो।"

अचानक ही इतने रुपये पाकर मोची ख़ुश हो गया। उसने सेठजी की इस उदारता पर बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। पर इतने रुपये पाकर मोची का सुख-चैन ग़ायब हो गया। उसे रात-दिन यही फ़िक्र सताने लगी कि ये रुपये वह कैसे सम्भाले? उसने उन्हें एक हण्डिया में रखा और कोठरी में एक गड्ढा कर गाड़ दिया। पर इन रुपयों ने उसका सुख-चैन लापता कर दिया। सोते-जागते उसे इन्हीं रुपयों की सुरक्षा सताने लगी। उसका घर से बाहर आना-जाना बन्द हो गया। उसकी पहले-जैसी मस्ती और सुख-चैन

भी नदारद हो गया। उसका पहले-जैसी मस्ती का गाना भी बन्द हो गया। इस सबका नतीजा यह हुआ कि उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। बहुत सोचने पर उसे अपनी हालत के बदलने का मर्म समझ आया। उसने कोठरी में गड्ढा किया, वहाँ गड़ी हुई हण्डिया निकाल कर उन सौ रुपयों को सेठ की थैली में डाला और उन्हें सेठ को लौटाते हुए कहा—"सेठजी, आपके इन सौ रुपयों की थैली ने मेरा सारा सुख-चैन छीन लिया। आपके रुपये आपको ही मुबारक! मुझे ये रुपये नहीं चाहियें। मुझे तो मेरी रोज़ की मेहनत और उससे कमाई रोटी चाहिये। ऐसे रुपये किसी के किस काम के, जिनसे उसका सुख-चैन छिन जाये? मैं तो समझ गया हूँ कि सच्चा सुख तो मन की शान्ति से ही मिल सकता है।"

प्रस्तुतिः नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

जीवेम शरदः शतम्

श्री अटलजी को भावभीनी श्रद्धाञ्जलि उन्हीं की कविता द्वारा...

मन हार कर, मैदान नहीं जीते जाते,
न मैदान जीतने से मन ही जीते जाते हैं।
चोटी से गिरने से अधिक चोट लगती है।
अस्थि जुड़ जाती, पीड़ा मन में सुलगती है।

इसका अर्थ यह नहीं कि
चोटी पर चढ़ने की चुनौती ही न मानें,
इसका अर्थ यह भी नहीं कि
परिस्थिति पर विजय पाने की न ठानें।

आदमी को चाहिये कि वह जूझे, परिस्थितियों से लड़े,
एक स्वप्न टूटे तो दूसरा गढ़े।

किन्तु कितना भी ऊँचा उठे,
मनुष्यता के स्तर से न गिरे,
अपने धरातल को न छोड़े,

अन्तर्यामी से मुँह न मोड़े।

एक पाँव धरती पर रख कर ही
वामन भगवान् ने आकाश, पाताल को जीता था।
धरती ही धारण करती है,
कोई इस पर भार न बने,
मिथ्या अभिमान से न तने।

आदमी की पहचान,
उसके धन या आसन से नहीं होती,
उसके मन से होती है।
मन की फ़क़ीरी पर
कुबेर की सम्पदा भी रोती है।

—श्री अटलबिहारी वाजपेयी

आशा

आयेगा वह दिन, बहुत ही शीघ्र आयेगा।
जब मही बिलकुल बदल कर
स्वच्छ, शीतल, सौम्य, शोभायुक्त, नयी हो जायेगी,
जिस तरह कोई नहा कर स्वच्छ हो जाये।
व्योम, उजली किसी कोमल विभा से पूर्ण होगा।
और यह नैराश्य का तम भाग जायेगा; आदमी के पंख निकलेंगे।
जहाँ तक स्वप्न उड़ता है वहाँ तक आदमी निर्बन्ध हो, उड़ सकेगा।
बसन्ती वायु के मादक झकोरों में
उड़ेंगे रक्तलोचन श्वेत पारावत ख़ुशी के।
सुनेगी शान्ति का कूजन मही सर्वत्र सुख से।
गगन पर जो घिरेंगे मेघ वे पीयूष देंगे,
दिवस में सूर्य से संजीवनी,
निशि में सुधाकर से सुधा की बूँद टपकेगी।

—अज्ञात

'नयी कोंपलें' :

बस या बस 'ड्राइवर' का इन्तज़ार...

कुछ लोग बड़े मज़ेदार होते हैं न! मैंने उनकी ओर कुछ पूछने के लिए देखा कि वे ही मुझसे सड़क के विषय में बातें करने लगे। उनका वाक्य ख़त्म न होता कि उनकी हँसी की आवाज़ सुनायी दे जाती। आख़िर मैंने उनसे कह ही दिया कि "आप पहले हँस लें। फिर देखेते हैं।" वे एकदम शान्त हो गये। कहने लगे—तुम्हें कुछ पूछना था?

"बस कब आयेगी?" मुझे उन्होंने आख़िर पूछने का मौक़ा दे ही दिया। वे कहने लगे कि जो बसें आने वाली थीं वे चली गयीं और जो आने वाली हैं उनका कुछ पता नहीं। कहते हैं कि बातों से सफ़र आधा हो जाता है किन्तु मुझे पता था कि अगर मैं इन जनाब के साथ दो मिनट और बैठी तो ये मेरे दो मिनट को दो घण्टों में बदलने में देर न करेंगे। इसलिए जैसे ही मैंने अपना बस्ता उठाया कि सामने बस दिखी।

मैं खिड़की की बगल में बैठी तो वे मुझे बाहर बैठे दिखायी दिये। वे मेरी ओर मुस्कुरा कर 'बाए-बाए' कहने लगे। जब बस चलने लगी तो लगा कि जैसे कुछ पीछे रह गया। पता नहीं क्यों बेचैनी-सी होने लगी। मैंने बस को रुकवाया और मैं बस से उतर गयी।

मैं उन्हीं जनाब की ओर दौड़ने लगी क्योंकि मुझे याद आया कि वे कोई और नहीं बल्कि वे बस ड्राइवर थे जो मुझे बचपन में स्कूल छोड़ कर आया करते थे और ऐसे ही मुस्कुरा कर 'बाए-बाए' कहा करते थे जैसा उन्होंने इस बार कहा।

मैं उनके पास पहुँची तो मैंने उन्हें देख कर कहा कि मैं आपको कैसे भूल गयी? वे मुझसे कहने लगे कि ज़िन्दगी यूँ ही मज़ेदार बनती है। यह इसी मज़े का एक उदाहरण है।

शायद वे कभी विद्यालय न गये हों, लेकिन जीवन को भली-भाँति पहचानते थे, जानते थे और समझते थे।

—शक्ति शर्मा

सैकड़ों बनफ़्शा एक साथ महक उठे...

(शीतकाल में धरती की गोद में सोये हुए बनफ़्शा फूलों की तरह दस साल पहले की 'पुरोधा' में दुबकी यह कहानी भी आज बरसों के जाड़े को सरका कर, वसन्त में बनफ़्शा की भाँति खिल उठी।—सं.)

बचपन की उन धुँधली यादों में पलट-पलट कर जो दृश्य नज़रों के सामने घूम जाता है बस यही है—ख़ानाबदोशों की तरह एक शहर से दूसरे शहर की धूल फाँकना, छह-आठ महीनों बाद फिर वही सामान बँधना, कभी किराये के मकानों में रहना, कभी "कई-कई" दिन रिश्तेदारों के यहाँ गुज़ारना—यानी, बचपन की यादों में स्थिरता की कोई जगह ही नहीं थी मेरे दिमाग़ में—बस हलचल ही हलचल से भरा था वह जब तक कि सफ़ाई के दौरान माँ ने मेरे हाथों में बचपन का वह मेरा पुराना चित्र न थमा दिया...

घुँघराली लटोंवाली, मुस्कुराती हुई वह बच्ची लकड़ी के उस विशाल घर के सामने और भी छोटी जान पड़ रही थी। अतीत की ख़ुशबुओं, दृश्यों, स्वरों को फिर से पूरी तरह जीने के लिए मैं आँखें मूँदे न जाने कितने पलों तक बुत बनी खड़ी रह गयी। आँख खोलते ही दोबारा उस चित्र में झाँका नहीं कि फुदक कर मैं उसके अन्दर घुस गयी!

तब मैं क़रीब सात साल की थी—इसके पहले की हमारी ज़िन्दगी में इतनी उथल-पुथल थी कि जब पापा ने ऐलान कर दिया कि अब हम देहात में अपने पैतृक मकान में चल कर रहेंगे तो मेरा दिल बल्लियों उछलने लगा—माता-पिता और मैं। बस तीन ही तो प्राणी थे हम!

कैलीफ़ोर्निया की उत्तरी सरहद पर उस छोटे से गाँव में साढ़े सात एकड़ ज़मीन पर हमारा वह पुश्तैनी मकान खड़ा था। अपनी ही ज़मीन के देवदारु के पेड़ों से ख़ुद मेरे दादाजी ने अपनी देख-रेख में बड़े चाव से आठ बड़े-बड़े कमरों का वह मकान खड़ा करवाया था और उनकी उस मेहनत और प्यार की सोंधी-सोंधी ख़ुशबू उस घर के रेशे-रेशे में बसी हुई थी। मुझे याद है, सर्दियों में हमारा अलाव देवदारु की लकड़ियों से ही सुलगता, हमारी रसोई में भी माँ उन्हीं लकड़ियों को जलातीं, देवदारु की लकड़ियों के छोटे-बड़े, हर तरह के गट्ठर हमारे चौके के अन्दर, बाहर बग़ीचे में हर जगह हमेशा ही बने रहते। यानी, याददाश्त की पृष्ठभूमि में हमेशा देवदारु

की भीनी-भीनी सुगन्ध मेरे दिलोदिमाग़ पर तैरती ही रहती थी।

१९३४ में मेरी सातवीं सालगिरह के महीना, डेढ़ महीना पहले हम इस हवेलीनुमा घर में आये थे। मेरे लिए तो यह राजमहल से कम न था क्योंकि जब से मैंने होश सम्भाला था, शहर के छोटे-छोटे, दरबों जैसे सीलन-भरे कोठरियाँ-नुमा 'फ़्लैट' में ही रहे थे—यहाँ आकर, मैंने जाना कि स्वर्ग किसे कहा जा सकता है।

हमारे मकान के आस-पास कोई और मकान था भी, इसकी मुझे धुँधली-सी भी याद नहीं। वैसे होता भी कैसे भला? साढ़े सात एकड़ ज़मीन तो हमारी ही थी।

यूँ देखा जाये तो वहाँ मेरी कोई सहेली या दोस्त नहीं था। मेरे साथ खेलने, बतियाने के लिए दूसरा बच्चा न था, लेकिन फिर भी मैं कभी अकेली न होती। न जाने किन-किन से घिरी रहती थी मैं सारा-सारा दिन! शहर के शोर-शराबे में रह कर मैंने धरती को भी ठीक तरह से न कभी देखा, न कभी सुना, आसमान की तरफ़ नज़र कभी क्योंकर उठती भला? और यहाँ देहात में, जहाँ सन्नाटा बोलता है, मैंने कितना कुछ नहीं सुना, कितना कुछ नहीं देखा! कितनी तरह के पक्षी सारा-सारा दिन अपनी राग-रागिनियों से मेरा मनोरञ्जन करते। कभी मैदानों में बहुतायत में पायी जाने वाली 'मॉकिंग बर्ड' अपने नाम को सार्थक बनाती हुई, अलग-अलग चिड़ियों की बोली निकाल कर मुझे चकमे में डाल देती, कभी नीले परोंवाली ख़ूबसूरत 'ब्लू जे' की ख़ूबसूरती पर मुग्ध मैं घण्टों उसे निहारती रहती तो कभी पेड़ पर पड़ती कठफोड़वे की लगातार दस्तक सुन मेरे कान भी बजने लगते। इधर गिलहरियाँ अपनी धमा-चौकड़ी करती-करती मसख़रेपन पर उतर आतीं तो उधर रंग-बिरंगी तितलियाँ इस फूल से उस फूल पर मँडराती हुई मुझे भी लगातार भगातीं, और मैं सोचा करती—पता नहीं भगवान् ने इन्हें ऐसे पर क्यों दे दिये कि पल-भर के लिए भी इतमीनान से कहीं नहीं बैठतीं ताकि मैं इन पर बिखरे रंगों की छटा निहार कर अपनी आँखों में बसा लूँ!

हाँ, एक बात और थी। उन दिनों सजीव और निर्जीव प्राणियों के बीच मेरे मन में लक्ष्मण-रेखा खिंच गयी थी। नहीं समझे न?—यानी, बटेरों की मन्द आवाज़ें जहाँ मुझे सुकून पहुँचाती थीं, वहीं रात के भोजन में मुर्गी का गोश्त खाने में मुझे कोई एतराज़ नहीं था। वे मेंढक जो हमारे पिछवाड़े

की तलैया में शाम होते ही टर्रा-टर्रा कर मेरा दिल बहलाते थे और जिन्हें माँ हमारी तश्तरियों में परोसती थीं उनके बीच कोई सम्बन्ध मैं नहीं देख पाती थी। मेरे अन्दर तो यही विश्वास जमा हुआ था कि भगवान् दो तरह के पशु-पक्षी गढ़ते हैं—एक हमारे बाग़-बग़ीचों में चहकने, कूदने-फाँदने, हमें रिझा-रिझा कर हमारा मनोरञ्जन करने के लिए और दूसरे हमारा अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए, क्योंकि माँ खाना परोसते समय हमेशा कहा करती थीं—फ़लाना मांस खाओगी तो ताक़त आयेगी, ढिमाका खाओगी तो मेरी तरह जल्दी-जल्दी बड़ी हो जाओगी, इत्यादि।

जब गरमी का मौसम उतरा तो जंगली फूलों की बारात सज गयी। मैं रोज़ अपने घर के हर कमरे में गुलदस्ते ही गुलदस्ते सजा देती और सारा घर ख़ुशबुओं से नहा उठता। एक रोज़ माँ मुझे टीन के कुछ ख़ाली डिब्बे थमा कर बोलीं—"बेटा, कुछ पौधे इनमें भी रोप दो।" मैंने कुछ फूल तोड़ कर, पानी छिड़का और उन्हें डिब्बों में डाल दिया। दिन-भर में वे मुरझा कर सूख गये; माँ के पास शिकायत गयी तो वे मेरी पीठ थपथपा कर बोलीं—"अरे, मिट्टी तो तुमने डाली ही नहीं, जड़ें कहाँ से निकलेंगी? जड़ के बिना कभी कोई चीज़ नहीं पनप सकती बेटेजी!"

बचपन में ही माँ ने जीवन के एक गहरे सत्य से मेरा परिचय करा दिया।

गरमियों में घर के पास बहती नदी में जब मछलियाँ तैरतीं तो मछली-फाँस की डोरी पानी में लटकाये मैं भी पापा से सटी घाट के पत्थर पर उकड़ूँ बैठ जाती, लेकिन वहाँ मुझे पल घण्टों लगते और मैं भाग खड़ी होती। हाँ, एक बार डटी रही तो सब्र का फल भी मिला। मेरी फाँस में एक छोटी-सी "कैटफ़िश" आ गयी और ख़ुशी की चीख़ों से मैं ऐसी बौखला-सी उठी कि पापा ने ऐन वक़्त पर अगर मुझे पीछे न खींच लिया होता तो उन्हें डुबकी लगा कर मुझे नदी से निकालना पड़ता!

बहरहाल, गर्मियों में काम भी काफ़ी रहा। पैसे कमाने के लिए—कुछ चीज़ें प्रकृति ने मेरे पिता की झोली में कभी न डालीं, उनमें से एक थी धन-दौलत—पापा रोज़ सवेरे घर से कुछ कि.मी. की दूरी पर बन रहे पुल की नौकरी में लग गये। इधर माँ जैम, अचार, मुरब्बे, सब्ज़ियाँ, गोश्त और न जाने क्या-क्या बना-बना कर डिब्बों में भर कर सीलबन्द करने लगीं। बीच-बीच में पापा इतवार को अपने दोस्त की गाड़ी लेकर उन डिब्बों को

शहर की एक दूकान में बेच आते और जब घर लौटते तो मेरे लिए कुछ-न-कुछ ऐसा ज़रूर लाते कि मैं उनकी बाँहों में समा जाती। पहली बार मैं भी ख़ुशी-ख़ुशी उनके साथ शहर चली गयी थी, लेकिन अपने देहात में इतने दिनों सौन्दर्य की सादगी में रहने के बाद शहर की बनावटी चकाचौंध में मेरा दम घुटने लगा था!! मैंने तौबा-तौबा की।

उन दिनों मेरा काम होता था, माँ के काम में भरसक हाथ बँटाना। कभी उनके संग बैठ कर मटर छिलवाना तो कभी आलू। कहीं क्यारियों की मिट्टी उलट-पुलट करना तो कभी लगातार इधर-से-उधर चीज़ें लाकर माँ को पकड़ाना, फिर कम-से-कम जगह घेर कर ज़्यादा-से-ज़्यादा सीलबन्द डिब्बे एक के ऊपर एक सजा कर रखना। तब कई बार मैं भी अपने-आपको माँ जितना कामकाजी और बड़ा समझने लगती थी!

शरद् ऋतु आते न आते तो हमारे सारे बग़ीचों पर सुनहरी छटा उतर आती। खेतों में जहाँ तक नज़र दौड़ाती, पीले-पीले, सुनहरे कद्दू ही कद्दू नज़र आते। और उस मौसम में माँ ने हम सबको कद्दूमय ही बना डाला —कद्दू की सब्ज़ी, कद्दू की मिठाई, कद्दू का केक, कद्दू की पकौड़ी, कद्दू का सूप... उन दिनों सचमुच मैं उन्हें "कद्दू मॉम" पुकारने भी लगी थी...!

और जैसे ही शीत ऋतु उतरी नहीं कि सारी चहल-पहल पर मानों सन्नाटे का पाला पड़ गया। उन दिनों हमारे खेत में बाँस पर टँगे निर्जीव बिजूखे से मेरी दोस्ती हो गयी। मेरे सारे सजीव संगी-साथी तो सरदी की चपेट से बचने के लिए अपने-अपने घरों में दुबक गये। बस देवदारु के वे लम्बे-लम्बे सदाबहार पेड़ सन्तरी की तरह खड़े रहे। सरदी के दिन मुझे बिलकुल न भाये, न ही उन देवदारुओं को। सर्द हवा के थपेड़े पड़ने पर उनकी भी सिसकारियाँ छूटतीं और सारा खेत साँय-साँय जैसी प्रेतात्मक आवाज़ों से गूँज उठता, लेकिन हमेशा उनकी उस बोली में मुझे कहीं यह दिलासा भी सुनायी देता—"डरो मत, डटे रहो। हम हैं न! कल ज़रूर बेहतर होगा और देखना, धूप खिलने पर हम दोनों फिर मुस्कुराते हुए तन कर खड़े हो जायेंगे।"

मेरे कानों में फूँके देवदारुओं के उस मन्त्र ने न केवल उस जानलेवा सरदी में मेरी रक्षा की बल्कि जीवन-भर उसकी ऊष्मा में मैं अपना हृदय

सेंकती रही।

उन ठिठुराती सर्दियों में जब माँ मुझे पूरा ऊनी लबादा पहना कर मेरे साथ निकलतीं तो मैं देखती कि जो कभी नदी हुआ करती थी उस पर हिम का सफ़ेद कफ़न बिछा हुआ है। जहाँ कहीं हरियाली और रंगों की बहारें हुआ करती थीं वहाँ सूखे, बेजान पत्तों का जाल फैला हुआ है जो हमारे भारी-भरकम बूट के नीचे ऐसे चरमरा कर दम तोड़ते कि मैं माँ पर बहुत नाराज़ होती कि भला क्यों वे मुझे प्रकृति की अन्त्येष्टि में शामिल होने के लिए यहाँ ले आयीं, और तब माँ मुझे उस मुर्दनी से निकले जीवन का दर्शन करातीं—भूरे पत्तों में छिपे बड़े-बड़े अखरोट! अखरोट चुनते-चुनते हम तलैया के उस पार अपने खेत की सरहद पर बनी एक छोटी-सी झोंपड़ी में पहुँच जातीं। सब कहते थे वहाँ एक डायन रहती है! लेकिन पहली ही बार पोपले मुँह, सन जैसे बालोंवाली, नाटी-सी बुढ़िया-माँ मुझे नानी-दादी-सी लगीं, और जब उन्होंने हमें गरम चाय और केक खिलाये तो मैं समझ गयी कि सर्दियों में काम-काज के अभाव में लोग-बाग बेसिर-पैर की कहानियाँ बहुत गढ़ा करते हैं।

और जाड़ों में जब मेरे सारे संगी-साथी अपने-अपने घोंसलों या बिलों में दुबक गये तो मैंने भी घर में माता-पिता के साये तले कहीं माँ से कसीदाकारी सीखी तो कहीं गुड्डे-गुड़ियों का कुनबा खड़ा किया, कभी पिता के साथ काग़ज़ की नावें, हवाई-जहाज़ चलाये तो कभी वर्णमाला पहचानने का अभ्यास किया या अक्सर उनकी गोदी में सिर रखे उनसे तरह-तरह के मनोरञ्जक क़िस्से-कहानियाँ सुने और उन दिनों जब-जब बारिश हो जाती, पिता सारा दिन घर पर ही बिताते तो हम तीनों अलाव के इर्द-गिर्द बैठ कर घण्टों ताश खेला करते। आह! वे दिन ही सच्चे दिन थे!!

लेकिन हम हमेशा अकेले नहीं होते थे। मेरे ख़ुशमिज़ाज पापा के कई दोस्त थे। सर्दियों में कभी-कभी हम उनके यहाँ शनिवार, इतवार बिताने चले जाते तो कभी वे हमारे यहाँ आ जाते। ऐसे ही एक शनिवार हम पापा के एक बढ़ई दोस्त के यहाँ गये। इतवार की सवेरे मेरी आँख कुछ जल्दी खुल गयी। देखा, पापा बिस्तर पर नहीं हैं। नीचे से खटर-पटर की आवाज़ें आ रही थीं, उत्सुकता मुझे नीचे खींच ले गयी। देखा, पापा अपने दोस्त के साथ एक छोटी कुर्सी बना रहे हैं—लाल रंग की उस ख़ूबसूरत कुर्सी

को देख मैं भौचक्की रह गयी और मुझे सामने देख पापा।

"ओह पापा! मेरे लिए है क्या यह?" मैं चहक उठी।

"नहीं, नहीं बेटे, यह तो बढ़ई अंकल को किसी बच्चे के लिए जल्दी बना कर देनी है इसलिए मैं इनकी मदद करने लगा। जाओ, तुम जाकर सो जाओ, अभी सवेरा नहीं हुआ, छुट्टी के दिन इतनी जल्दी नहीं होती सुबह।" पापा ने लगभग मुझे ठेलते हुए कहा।

मैं चली तो गयी, लेकिन प्रश्नचिह्न बनी हुई। बात आयी-गयी हो गयी।

क्रिसमस से ठीक पहले पापा जंगल से चीड़ की सुन्दर, मोटी टहनी काट कर ले आये जो प्रायः कमरे की छत को छू रही थी। हमने उसे चमकदार रंगीन काग़ज़ की झालरों, रंग-बिरंगे खिलौनों से ख़ूब अच्छी तरह सजा दिया। उस पर लगी बल्बों की लड़ियाँ जब दिपतीं-बुझतीं तो उत्सव का सन्देसा सुनातीं। क्रिसमस के पहले की साँझ पेड़ के चारों तरफ़ जब मोमबत्तियाँ जलायीं तो लगा, सारा कमरा रोशनी में खिलखिला उठा!

अगली सवेरे मैं तीन-तीन सीढ़ियाँ फाँदती नीचे उतरी नहीं कि... क्रिसमस के पेड़ के पास सजी थी ठीक वैसी ही लाल रंग की छोटी-सी कुर्सी जिसकी झलक मुझे बढ़ई अंकल के घर मिली थी...! लेकिन मेरे माता-पिता दोनों ने मुझे बतलाया कि वह ख़ास मेरे लिए सीधी 'सैंटा क्लॉज़' से आयी है। वाकई मैं रीझ गयी 'सैंटा क्लॉज़' की उदारता और सूझ-बूझ पर! कैसे सुन ली उन्होंने मेरी बात बढ़ई अंकल के घर और बनवा कर ले आये मेरे लिए हूबहू वैसी ही कुर्सी!

"धन्यवाद! फ़ादर क्रिसमस" मैं उनका और अपने माता-पिता का शुक्रिया अदा करना न भूली।

सर्दियाँ सचमुच कठोर थीं और उनका अन्त ही नहीं आता दीखा। जब मेरा धीरज छूटने लगा तब भगवान् ने मेरा हाथ थाम लिया। उस दिन घर के पिछवाड़े की तलैया तक पहुँची नहीं कि बैंजनी कालीन बिछा पाया!! ओह! वातावरण में कितनी ख़ुशबू छायी हुई थी! रातों रात यह कैसा जादू हो गया? मैं 'माँ, माँ, जल्दी बाहर आओ, देखो तो सही' पुकारती-पुकारती घर के अन्दर तीर की तेज़ी से दौड़ी, उनका हाथ खींचती उन्हें बाहर ले आयी। वह भव्य नज़ारा देख मुझे अपनी छाती से चिपटा माँ का गद्‌गद स्वर फूट पड़ा—"बनफ़शा, जंगली बनफ़शा के फूल हैं ये मेरी

बच्ची। वसन्त उतर आया है।"

वसन्त! पहली बार वसन्त की विजय पर झूम-झूम कर नाची और पहली बार मैंने प्रकृति के उस सम्पूर्ण और पूजनीय सौन्दर्य को उसकी पूर्ण गरिमा में अनछुआ ही छोड़ दिया —एक फूल तक न बटोरा!

क़रीब साल-भर प्रकृति की बदलती हुई करवटों को देख अब मैं रोज़ बनफ़्शा की सुन्दरता और सुगन्ध को जी भर कर अपने हृदय में उँडेलती चली गयी और जब प्रकृति का वह बैंजनी कालीन भी सिमट गया तो मैं दुःखी नहीं हुई क्योंकि मैं समझ गयी थी कि हर गरमी, पतझड़ और जाड़े के बाद वसन्त ज़रूर आयेगा और बनफ़्शा की बहार फिर-फिर खिलेगी।

लेकिन अगले साल प्रकृति के इन बदलते रूप-रंगों को देखने मैं देहात में मौजूद न थी।

उस रोज़ पापा ने घर आकर जब बड़े जोश से यह ऐलान किया कि हम हफ़्ते-भर में 'टैक्सस' चले जायेंगे जहाँ उन्हें बढ़िया काम मिल गया है तो मेरे पैरों के नीचे की ज़मीन खिसक गयी...। मुझे लगा कि पिता ने मुझे मेरी ज़मीन से, जड़ से उखाड़ कर बिना मिट्टी के, एक टीन के डिब्बे में छोड़ दिया...। कहाँ से पाऊँगी अब मैं अपनी जड़ें?

सोना उगाहने के लालच में पिता के साथ फिर हमारी वही ख़ानाबदोश ज़िन्दगी शुरू हो गयी...

सोना तो कहीं न मिला, उलटे पिता कर्ज़ के भार से दोहरे हो गये और जिस दिन उन्होंने हमारा देहातवाला वह स्वर्ग का टुकड़ा बेच दिया, मैं सिकुड़ कर एकदम मुरझा गयी।

मेरी सिकुड़ी-सिमटी ज़िन्दगी में बहने वाली सर्द, बर्फ़ीली हवाओं ने मेरे अन्दर की सारी आँच पर पाला फेर दिया...। पिता की असमय मौत, माँ का अचानक बुढ़ा जाना, घुन लगे अपने अँधेरे भविष्य का ख़याल —यह सब चौबीसों घण्टे मेरी नज़रों के सामने हौवा बना खड़ा ही रहता अगर सफ़ाई के दौरान बचपन का वह चित्र माँ ने मेरे हाथों में न थमा दिया होता... और मैं उसमें कूद कर जन्नत में बिताया एक साल फिर से न जी उठती...।

दूर दराज़ तक बनफ़्शा के वे खिले फूल मेरे कानों में लगातार यह मन्त्र फूँक रहे थे—"देखो, कभी हिम्मत न हार बैठना। हर बर्फ़ीले मौसम

के नीचे हम दुबके रहते हैं, बस बदलते मौसम की हलकी-सी चटक हुई नहीं कि हम अपने सारे ऐश्वर्य में लहलहा, अग-जग को महका कर, नूतन जीवन का सन्देसा सुनाने लगते हैं।"

मेरे भी हृदयांगन में सैकड़ों बनफ़शा एक साथ महक उठे।

उधर देवदारु के वे लम्बे-लम्बे पेड़ भी बनफ़शा की हाँ में हाँ मिलाते हुए इधर-से-उधर झूम-झूम कर मेरे कानों में फुसफुसा रहे थे—

कल से बेहतर आज हो

और आज से बेहतर हो कल।

'पुरोधा', नवम्बर २००८ से —वन्दना

जब दु:ख-दर्द सिर पर सवार हो जाये तो हम क्या कर सकते हैं?

एक सुन्दर फूल को निहारो।

१३ जून १९३५ —श्रीमाँ

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर, झुंझुनूं
श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा-केन्द्र, झुंझुनूं (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमाँ के मनुष्य जाति के लिए दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह केन्द्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केन्द्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारम्भ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केन्द्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिये सरकारी प्रमाण-पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उनकी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिए निम्नलिखित पते पर संपर्क करें।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केन्द्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगाकर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे लोग अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें :

पंकज बगड़िया
श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर
मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला
पो०-झुंझुनूं—३३३००१ (राजस्थान)
टेलीफोन—(०१५९२) २३५६१५
टेलीफैक्स—२३७४२८
e-mail: sadlecjjn@rediffmail.com
URL: WWW.sadlec.org

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st October 2018
Rs. 15.00 (Monthly)

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 4. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 4

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2018-19

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 onwards

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurugram
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gurugram
+91 124 4681600, +91 9821786363